प्रकाशक-
मूलचंद किसनदास कापड़िया
ऑ० प्रकाशक जैनमित्र व मालिक दिगम्बर जैन
पुस्तकालय, चंदावाड़ी-सूरत।

मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया-
'जैनविजय' प्रेस, खपाटिया चकला-सूरत।

यह श्री प्रवचनसार ग्रन्थ जैनागमका सार है। इसमें तत्त्वज्ञान और चारित्रका तत्वरसगर्भित विवेचन है। इसमें तीन अधिकार हैं-ज्ञानतत्त्व, ज्ञेयतत्त्व और चारित्र जिनमेंसे इस खंडमें ज्ञानतत्त्व प्रतिपादक खण्डका उल्था विस्तारपूर्वक इसीलिये किया गया है कि भाषाके जाननेवाले सुगमतासे इसके भावको जान सकें। इसके मूलकर्ता श्री० कुंदकुंदाचार्य हैं जिन्होंने प्राकृत गाथाएं रची हैं। इसपर दो संस्कृत टीकाएं मिलती हैं-एक श्री अमृतचंद्राचार्य कृत, दूसरी श्री जयसेनाचार्यकृत। पहलेकी टीकाके भावको आगरा निवासी पं० हेमराजजीने प्रगट किया है जो मुद्रित होचुका है, परन्तु जयसेनकृत वृत्तिका हिंदी उल्था अबतक कहीं जाननेमें नहीं आया था। तब जयसेनाचार्यके भावको प्रगट करनेके लिये हमने विद्याबल न होते हुए भी इसका हिंदी उल्था किया है सो पाठकगण ध्यानसे पढ़ें। तथा जहां कहीं भ्रम मालूम पड़े मूल प्रति देखकर शुद्ध करलें। हमने अपनी बुद्धिसे प्रत्येक गाथाका अन्वय भी कर दिया है जिससे पढ़नेवालोंको शब्दोंके अर्थका बोध होजावे। वृत्तिकारके अनुसार विशेष अर्थ देकर फिर हमारी समझमें जो गाथाका भाव आया उसे भावार्थमें खोल दिया है।

श्री कुंदकुंदाचार्यका समय विक्रम सं० ४९ है ऐसा ही

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया
ऑ॰ प्रकाशक जैनमित्र व मालिक दिगम्बर जैन
पुस्तकालय, चंदावाड़ी-सूरत।

विषयसूची।

दि० जैन पट्टावलियोंसे प्रगट है तथा इनके शिष्य श्री तत्वार्थसूत्रके कर्ता श्रीमद्उमास्वामी महाराज थे, जिनका समय विक्रम स० ८१ है। उनकी मान्यता जैन समाजमें श्री गौतमस्वामी तथा श्री महावीरस्वामीके तुल्य है इसीसे हर ग्राममें जब जैन शास्त्र सभा होती है तब आरंभमें यह श्लोक पढ़ा जाता है—

> मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
> मंगलं कुन्दकुन्दाचार्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलं॥

श्री पंचास्तिकाय समयसार, नियमसार, षट्पाहुड़, रयणसार द्वादशानुप्रेक्षा आदि कई ग्रंथोंके कर्ता श्री कुंदकुंदाचार्यजी हैं। श्री जयसेनाचार्यका समय श्री अमृतचंद्रके पीछे मालूम होता है। श्री अमृतचन्द्रका समय दशवीं शताब्दी है। इसके लगभग श्री जयसेनाचार्यका समय होगा। यह टीका शब्दबोध समझानेके लिये बहुत सरल है। पाठकगणोंसे निवेदन है कि वे इस पुस्तकको अच्छी तरह पढ़कर हमारे परिश्रमको सफल करें। तथा ग्रन्थका प्रचार शास्त्रसभा द्वारा व्याख्यान करके करते रहें।

इन्दौर
आषाढ वदी १२
ता० १८-७-२९

जैनधर्मका प्रेमी—
ब्र० सीतलप्रसाद।

विषयसूची।

संक्षिप्त परिचय—

सेठ गिरधारीलाल चंडीप्रसादजी।

सीकर (राजपूताना) जयपुरका मण्डलवर्ती राज्य तथा शेखावाटीका एक परिगणनीय भाग है। सीकरकी राज्य व्यवस्था सात परगनोंमें विभक्त है जिसमें तहसील फतहपुर एक बहुत बड़ा और मख्यात शहर है। यह सीकर (राजधानी) से ११ कोशकी दूरीपर बसा हुवा है। वर्तमान सीकर-नरेश रावराजा कल्याणसिंहजी हैं। फतेहपुरमें दिगम्बर भाइयोंके १९०–२०० घर हैं तथा दो मंदिर भी हैं जिनमें एक मंदिर अति प्राचीन है।

इसी नगरमें सेठ गुलाबरायजी सरावगी (श्रावक) अग्रवाल गर्गगोत्रीके संवत् १९२८ में एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुवा जिनका नाम गिरधारीलालजी था। पाठक, जिन दो भाइयोंका चित्र देख रहे हैं वे आपहीके पुत्र हैं।

गिरधारीलालजी फतेहपुरसे १४ वर्षकी अवस्थामें कलकत्ते आये उस समय आपकी आर्थिक अवस्था साधारण थी। अतः आप एक परिचित व्यापारीके यहां कार्य सीखते रहे। ८–१० वर्ष बाद आपके शुभ कर्मोंका उदय हुवा और आपने कपड़ेकी दलाली करनी आरंभ की। तभीसे आपकी स्थिति दिनों दिन बढ़ने लगी और आप भगवान जिनेन्द्रकी कृपासे लक्षाधिपति बन गये।

स्वर्गीय सेठ गिरधारीलालजीके पुत्र
सेठ चंडीप्रसादजी तथा चि० देवीप्रसादजी—कलकत्ता।

नविजय प्रेस-सूरत

आपके तीन सतान हुई जिनमें प्रथम श्रीयुत चण्डीप्रसाद-का जन्म सवत् १९२४ में हुआ। द्वितीय सतान आपके कन्या हुई और तृतीय सतान चि० देवीप्रसादका जन्म सवत् १९३१ में हुआ।

सेठ गिरधारीलालजी बड़े मिलनसार तथा पर दुःख सुखमें योग देनेवाले थे। धार्मिक नियमोंको भी आप यथासाध्य करते थे। दोनों बार श्री सम्मेदाचलकी यात्रा ३–४ बार कर आये थे पर सवत् १९७७ में अर्थात् स्वर्गारोहण (स० १९७८) के ६-१ मास पूर्व ही आपको पुन. एकाएक तीर्थयात्रा करनेकी इच्छा हुई। सो ठीक ही है, जिसकी गति अच्छी होनेको होती है उसके विचार धर्मकी ओर ऋजु हो जाते हैं। अतएव आप धर्मकी निर्जरा हेतु सपरिवार प्राय सारे तीर्थोंके दर्शनकर आये और यथाशक्ति दान भी किया तथा श्री सम्मेदशिखरजीमें यात्रियोंके लिये एक कमरा भी बनवा आये। आपने कलकत्तेके गोमवपर एकबार श्री जिनेन्द्र भगवानका रथ भी हांका था। उस समयमें भी आपने १०००) का दान किया था।

आपके दोनों पुत्र (चित्रमें) पिताके जीवन कालमें व्यापारनिपुणता प्राप्तकर चुके थे और अपने पिताको उन मृत्युके दो वर्ष पूर्व ही व्यापारसे मुक्तकर धर्मध्यानमें लगा दि था। "बनते भामने लग्न सरकारो नान्यथा मवे " की क. कहावतके अनुसार ये दोनों भाई धर्माचरण कर ... हैं, मिलनसार, परोपकारार्थ, घर लगानेवाले

पूजनपाठ, शास्त्रश्रवण तथा स्वाध्याय व्रतादि भी यथाशक्ति करते हैं। आपकी माताजी भी बड़ी धर्मात्मा हैं। क्यों न हो, जिनके पुत्रादि इस प्रकारके सज्जन हों उस माताका क्या कहना?

वीर निर्वाण संवत् २४४८ में जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी श्री शीतलप्रसादजी महाराज जब कलकत्तेमें चातुर्मास (वर्षाकाल) बिता रहे थे उस समय ब्रह्मचारीजीने जो यह टीका लिखी थी उसकी प्रकाशन तथा "जैनमित्र" के ग्राहकोंको वितरण करनेके लिये श्रीयुत चंडीप्रसादजीसे आदेश किया कि आप अपने स्वर्गीय पिताकी स्मृति स्वरूप यह श्री जिनवाणी रक्षा तथा धर्म प्रसादका कार्यकर लेवें। तब आपने तत्क्षण ब्रह्मचारीजीकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और यह ग्रंथ-रत्न आज पाठकोंके कर-कमलोंमें धर्मपथ प्रदर्शनार्थ इन्हीं भाइयोंकी सहायतासे सुशोभित हो रहा है। परिवर्तनरूप संसारमें इसी प्रकारका दान साथ देता है। हां, इतना अवश्य है कि इस प्रकार शुभ और धार्मिक कार्योंमें उन्हींका द्रव्य लग सकता है जिनका द्रव्य अहिंसा और सत्य व्यापारसे उपार्जित हो।

भगवान् श्री जिनेन्द्र देवसे प्रार्थना है कि आप दोनों भाइयोंको चिरायु प्राप्त हो तथा आपके धार्मिक विचार दिनोंदिन उन्नति करें।

स जातो येन जातेन, याति वंश॰ समुन्नतिम्
परिवर्तिनि संसारे, मृतः को वा न जायते ॥

विनीत-छोटेलाल जैन,-कलकत्ता।

शुद्धयशुद्धि ।

पत्रे	ला०	अशुद्धि	शुद्धि
३	११	करते है	करके परम चारित्रक आश्रय करता हू ऐ प्रतिज्ञा करते है
३	१८	कम्म ल	कम्ममल
१५	१२	ओ	जो
१८	७	उवसप मि	उवसपयामि
२८	१९	आत्मा	वीतराग तथा सरा भावमें परिणमन करत हुआ आत्मा
३०	११	काया	कार्यो
३१	३	अशुभोपयोग	शुभोपयोग
३६	१०	अपरिणामीके	अपरिणामीक
,,	१३	उसमें भी	उसमेंसे भी
४३	११	अतीन्दिय	अतीन्द्रिय
४८	११	हस्तावलमन	हस्तावलम्बन
४९	२३	ग सिद्धानाम्	ग प्रसिद्ध
५०	१८	मुख	सुख
५२	२	हूँ	हूँ जाय तौ

पन्ने	ला०	अशुद्धि	शुद्धि
,,	२१	हैं	रखने हैं
,,	२२	करता	करता है
६६	२३	जब तक	है जबतक
७८	२	१	१९
८९	१९	स्थिव्यर्थ	स्थिरयर्थ
९८	१४	तक	यहा तक
,,	१७	यों की	लिये इन्द्रियोंकी
९९	१९	ज्ञान	आत्मा ज्ञान
१०३	१	जह	जहां
,,	६	रते	करते
,,	१८	जो	जो आत्माको
१०४	९	न	हीन
१०६	८	आत्मज्ञान	आत्मा ज्ञान
,,	११	कामका	कामको
१०७	७	मुखसे	गुणसे
११९	८	व्यक्तता	व्यक्तृतामें
१२५	५	कि धर्म जैसे	कि जैसे
१२८	२०	आनात्मा	अनात्मा
१३१	१५	तथा	है तथा
१४३	नीचेसे १	और और	और
१४६	३	प्रवण	द्रवण
१४७	११	आगामी	भूत

पत्रे	पं०	अशुद्धि	शुद्धि
१४८	२	स्फुरायमान	स्फुरायमान
१५५	१७	बधका बध	बधका
१५७	८	कर्मौं	कर्मोंका
"	११	यदि	यदि राग
१७३	१	करते	न करते
१७५	१	किंतु भीतर	भीतर
१७६	१०	मोहादिभि	मोहादिभि
१७८	११	बन रहो	न रहो
१८९ नीचे	१	परिणमता	परिणमाता
१९३	७	वह	सत्ता वह
१९६	७	अशक्ति	आशक्ति
२०२	१६	ज्ञान	ज्ञान होता है
२०५	१६	नाल	लाल
"	२१	बन्द्	बन्ध
२०६	१२	परिणमति	परिणति
२०८ नीचेसे	२	असुत्तो	अमुत्तो
२१९	४	करण	कारण
२२१	११	पचवस्स	पचवस्स
२२२	१६	दष्ट	इष्ट
२२४	१९	अस्त्वा	श्रुत्वा
२२५	२	टुःख	दुःख
२२७	१८	सी	उसी

पत्रे	लो॰	अशुद्धि	शुद्धि
२४१	६	यथा	येथा
२४७	१७	तिष्ठता	तिष्ठना
,,	,,	करता	करना
२६२	१८	अब तरह	सब तरह
२६७	२१	मोह	मोह हटाकर जिनमें
,,	२१	आदि	आदि रात्रिको
२८१	२	आशक्तिके	आशक्तिके वश
२८८	७	यकी	भीतर भी विषयकी
२९०	३	नौकर्म	नोकर्म
२९८	२१	ससार	ससार मोह
३०८	१४	पदमिद	पदमिद
३०९	१०	आदिक	आदिकका
३१२ नीचेसे१		कारण	करण
३१३ नीचेसे४		मास्त	मास्ते
३१६	११	और	और आत्मामें मूढता दूर करनेके लिये ज्ञान
३१७	१०	मारुहिंड	मारहिंड
३२०गाथा ८८			गाथा ९०से ८८तक न॰गलत हैं यहातक ८९ चाहिये
३२१	३	रणा	मेरणा

पत्रे	लां०	अशुद्धि	शुद्धि
१२७	१९	करने	कराने
१२८	१२	भवाम्भोधा	भवाम्भोधौ
,,	१९	सयुवम्	सयुतम्
१३८	१०	नता है	जानता है
१४१	१८	मिट्टी गुप्त	मिट्टीमें गुप्त
१४४	१४	नों	दोनों
,,	१९	हैं	रहे हैं
१४७	२१	यन	येन
१४८	१४	ओंसे	छ गाथाओंसे
१५०	नीचेसे१	भेद विज्ञानके	भेद विज्ञान
१५१	१८	स्वभाववाप्ति	स्वभावावाप्ति
१७०	२१	रुची	रुचि
१७१	१३	आ देश	आदेश

श्रीकुंदकुंदस्वामी विरचित—

श्रीप्रवचनसार भाषाटीका।*

दोहा—परमातम आनंदमय, ज्ञान ज्योतिमय सार।
भोगत निज सुख आपसे, आपी मे अविकार॥

अष्ट करमको नष्ट कर, निज स्वभाव झलकाय।
परम सिद्ध निजमें रमी, वदहु मनमें ध्याय॥
परम पूज्य अरहन्त गुरु, जिनवाणीके नाथ।
सकल शुद्ध परमात्मा, नमहु जोड़ निज हाथ॥
रिषभ आदि महावीर लों, चौवीसों जिन राय।
परम शूर शुद्धात्मा, नमहु नमहु गुण गाय॥
गौतम गणके ईश मुनि, जंबू और सुधर्म।
पंचम युग केवलि भए, प्रगटायो जिन धर्म॥
कर प्रणाम अर नमस्कार, श्रुत केवलि समुदाय।
अंग पाठि मुनिवर सबै, निज पर तत्व लखाय॥
कुंद कुंद आचार्यके, गुण सुमरूं हरवार।
जिनके वचन प्रमाण है, जिनवर वच अनुसार॥
सार तत्व निज आत्मा, दिखलावन रविसार।
संशय विभ्रम मोह नष, हरण परम अविकार॥

* प्रारंभ—श्रावण वदी १४ वि० सं० १९७९ ता० २२-८-२२

जा ज्ञान श्रद्धे विना, पथ सम्यक न लखाय ।
तिस आतमका भाव सब, भिन्न दरशाय ॥
स्वसंवित्तिसे सार सुख, भोग भोग हुलशाय ।
अन्य भव्य पर कृपा कर, मारग दियो बताय ॥
तिस गुरुका आगम परम, है एक प्रवचन सार ।
चन्द्रामृत टीका रची, संस्कृतमें गुणकार ॥
द्वितीय वृत्ति जयसेनने, लिख निज सुधा बढ़ाय ।
ताका पथ कर सुगमरो, रचि बाढ़ी अधिकाय ॥
प्रथम वृत्ति भाषा करी, हेमराज सुधरान ।
द्वितीय वृत्ति भाषा नहीं, हुई अब तक यह जान ॥
मद बुद्धि पर रचि घनी, ताके ही परसाद ।
बालबोध भाषा लिखू, कर प्रमादको बाद ॥
निज अनुभवके कारणे, पर अनुभवके काज ।
जो कछु उद्यम बन पड़ा, है सहाय जिनराज ॥

आगे श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिके अनुसार श्री प्रवचनसार आगमकी भाषा वचनका लिखी जाती है ।

प्रथम ही वृत्तिकारका मंगलाचरण है ।

श्लोक—नमः परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुखसम्पदे ।
परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ॥ १ ॥

भावार्थ—परम चैतन्यमई अपने आत्मासे उत्पन्न सुख सम्पत्तिके धनी और परमागमके सार स्वरूप श्री सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार हो ।

प्रथम श्लोककी उत्थानिका —एक कोई निकट भव्य शिवकुमार नामधारी थे जो स्वसंवेदनसे उत्पन्न होनेवाले

परमानन्द मई एक लक्षणके धारी सुख रूपी अमृतसे । चार गति मई संसारके दु खोंसे भयभीत थे। व जिसमें भेदज्ञानके द्वारा अनेकान्तके प्रकाशका माहात्म्य उत्पन्न हु था व जिन्होंने सर्व खोटी नयोंके एकान्तका हठ दूर कर था तथा जिन्होंने सर्व शत्रु मित्र आदिका पक्षपात छोडकर अत्यन्त मध्यस्थ होकर धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोंकी अपेक्षा अत्यन्तसार, और आत्महितकारी व अविनाशी तथा पंच परमेष्ठीके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाले, मोक्ष लक्ष्मी रूपी पुरुषार्थको अंगीकार किया था। श्री वर्द्धमान स्वामी तीर्थंकर परमदेवको आदि लेकर भगवान पाच परमेष्टियोंको द्रव्य और भाव नमस्कारके द्वारा नमस्कार करते हैं।

भावार्थ-यद्यपि यहां टीकाकारके इन शब्दोंसे यह झलकता है कि शिवकुमारजी आगेका कथन करते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। आगेके व्याख्यानोंसे झलकता है कि स्वामी कुदकुदाचार्य ही इस ग्रन्थके कर्ता हैं तथा शिवकुमारजी मुख्य प्रश्नकर्ता हैं-शिवकुमारजीको ही उद्देश्यमें लेकर आचार्यने यह ग्रन्थ रचा है।

गाथा-

एस सुरासुरमणुसिंद, वंदिदं धोदघाइकम्म-लं।
पणमामि वड्ढमाणं, तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ १ ॥

संस्कृत छाया-

एष सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितं धौतघातिकर्ममलम् ।

सामान्यार्थ-यह जो मैं कुन्दकुन्दाचार्य हूं सो चार र देवोंकि और मनुष्योंके इन्द्रोंसे वदनीक, घातिया कर्मोंको नेवाले, धर्मके कर्ता, तीर्थंकररूप श्री वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार रता हूं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(एस) यह जो मैं ग्रन्थ कार ग्रन्थ करनेका उद्यमी भया हूं और अपने ही द्वारा अपने आत्माका अनुभव करनेमें स्वलीन हूं सो (सुरासुरमणुसिंद वंदिद) तीन जगतमें पूजने योग्य अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंके आधारभूत अर्हंतपदमें विराजमान होनेके कारणसे तथा इस पदके चाहनेवाले तीन भवनके बड़े पुरुषों द्वारा भले प्रकार जिनके चरणकमलोंकी सेवा की गई है इस कारणसे स्वर्गवासी देवों और भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी देवोंके इन्द्रोंसे वदनीक, (धोदघाइकम्ममल) परम आत्म स्वलीनता रूप समाधि भावसे जो रागद्वेषादि मलोंसे रहित निश्चय आत्मीक सुखरूपी अमृतमई निर्मल जल उत्पन्न होता है उससे ज्ञानावरणीय, दर्शनावर्णीय, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके मलको धोनेवाले अथवा दूसरोंके पापरूपी मलके धोनेके लिये निमित्त कारण होनेवाले, (धम्मस्स कत्तार) रागादिसे शून्य निज आत्मतत्वमें परिणमन रूप निश्चय धर्मके उपादान कर्त्ता अथवा दूसरे जीवोंको उत्तम क्षमा आदि अनेक प्रकार धर्मका उपदेश देनेवाले (तित्थ) तीर्थ अर्थात् देखे, सुने, अनुभवे इन्द्रियोंके विषय सुखकी इच्छा रूप जलके प्रवेशसे दूरवर्ती परमसमाधि रूपी जहाज पर चढ़कर ... अथवा दूसरे जीवोंको संसार सागरसे

पार होनेका उपाय मई एक जहाज स्वरूप (वड्ढमाण) सब तरह अपने उन्नतरूप ज्ञानको धरनेवाले, तथा रत्नत्रय मई धर्म तत्वके उपदेश करनेवाले श्री वर्धमान तीर्थंकर परमदेवको (पणमामि) नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ-यहां ग्रंथकर्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देवने ग्रंथकी आदिमें मंगलाचरण इसी लिये किया है कि जिस धर्म तीर्थके स्वामी श्री वर्द्धमान स्वामी थे उसी धर्मका वर्णन करनेमें उन्हींके गुण और उपदेशोंमें हमारा मन लवलीन रहे जिससे सम्यक् प्रकार उस धर्मका वर्णन किया जासके । यह तो मुख्य प्रयोजन मंगलाचरणका है । तथा शिष्टाचारका पालन और अंतराय आदि पाप प्रकृतियोंके अनुभागका हीनपना जिससे प्रारम्भिक कार्यमें विघ्न न हो गौण प्रयोजन है । महान पुरुषोंका नाम लेना और उनके गुणोंको स्मरण करना उसी समय मनको अन्य चिन्तवनोंसे हटाकर उस महापुरुषके गुणोंमें तन्मय कर देता है जिससे परिणाम या उपयोग पहलेकी अपेक्षा उस समय अधिक विशुद्ध हो जाता है-उसी विशुद्ध उपयोगसे धर्मभावनामें सहायता मिलती जाती है । जबतक इस क्षेत्रमें दूसरे तीर्थंकर द्वारा उपदेश न हो तबतक श्री वर्द्धमान स्वामीका शासनकाल समझा जाता है । वर्तमानमें जो गुरु द्वारा या आगम द्वारा उपदेश प्राप्त हो रहा है उसके साक्षात् प्रवर्तक श्री वर्द्धमान स्वामी हुए हैं । इसीसे उनके महत् उपकारको स्मरणकर आचार्यने चौवीसवें तीर्थंकर श्री वर्द्धमान भगवानको नमस्कार किया है । क्योंकि गुणों हीके द्वारा कोई व्यक्ति पूज्य होता है तथा गुणोंका ही

असर स्मरण करनेवालेके चित्तमें पड़ता है इस लिये आचार्यने गाथामें श्री वर्द्धमान स्वामीके कई विशेषण दिये हैं। पहला विशेषण देकर यह दिखलाया है कि प्रभुके गुणोंका इतना महत्त्व है कि जिनके चरणोंको चार तरहके देवोंके सब इन्द्र नमन करते हैं तथा चक्रवर्ती राजा भी नमस्कार करते हैं। इससे यह भाव भी सूचित किया है कि हमारे लिये आदर्शरूप एक अरहंत भगवान ही है-किन्तु कषाय रूप अतरंग और वस्त्रादि बाह्य सामग्री रूप बाह्य परिग्रह धारी कोई भी देव या मनुष्य नहीं इसी लिये हमको श्री अरहंत भगवानमें ही सुदेवपनेकी बुद्धि रखकर उन्हींका पूजन मान तथा भजन करना चाहिये। दूसरे विशेषणसे श्री अरहंत भगवानका अंतरंग गौरव बताया है कि जिन चार घातिया कर्मोंने हम संसारी आत्माओंकी शक्तियोंको छिपा रक्खा है उन घातिया कर्मोंका नाशकर प्रभूने आत्माके स्वाभाविक विशेष गुणोंको प्रकाश कर दिया है। अनंत ज्ञान और अनन्त दर्शनसे वह प्रभु सर्व लोक अलोकके पदार्थोंको उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंके साथ विना क्रमके एक ही समयमें जान रहे हैं। उनको किसी पदार्थके किसी गुणके जाननेकी चिंता नहीं रहती। वह सर्वको जानकर परम संतुष्ट हैं। जैसे कोई विद्वान अनेक शास्त्रोंका ज्ञानी होकर उनके ज्ञानसे संतुष्ट रहता है और उनकी तरफ लक्ष्य न देते हुए भी भोजन व भजनमें उपयुक्त होनेपर भी उन शास्त्रोंका ज्ञाता कहलाता है वैसे केवली भगवान सर्व ज्ञेयोंको जानते हुए भी उनकी तरफ उपयुक्त नहीं है। उपयुक्त अपने आपमें ही अपने स्वभावसे हैं इसीलिये अपने आनन्दमई अमृतके स्वादी होरहे हैं।

र उनको किसी ज्ञेयके जाननेकी न किसी ज्ञेयके भोगनेकी चिंता है। वे परम तृप्त हैं। अनंत वीर्यके प्रगट होनेसे वे प्रभु अपने स्वभावका विलास करते हुए तथा स्वसुख स्वाद लेते हुए कभी भी थकन, निर्बलता तथा अनुत्साहको प्राप्त नहीं होते है। न उनके शरीरकी निर्बलता होती है और न उस निर्बलताके कारण कोई आत्मामें खेद होता है इसीलिये प्रभुके उपयोगमें कभी भी भूख प्यासकी चाहकी दाह पैदा नहीं होती, विना चाहकी दाहके वे प्रभु मुनिवत् भिक्षार्थ जाते नहीं और न भोजन करते हैं। वे प्रभु तो स्वात्मामें पूर्ण तरह मस्त हैं। उनके कोई संकल्प विकल्प नहीं होते हैं। उनका शरीर भी तपके कारणसे अति उच्च परमौदारिक हो जाता है। उस शरीरको पुष्टि देनेवाली आहारक वर्गणाएं अंतराय कर्मके क्षयसे विना विघ्नके आती हैं। और शरीरमें मिश्रण होकर उसी तरह शरीरको पुष्ट करती है। जिस तरह वृक्षादिके विना मुखसे खाए हुए मिट्टी, जलादि सामग्रीका ग्रहण होता और वृक्षादिका देह पुष्ट होता है। वे समाधिस्थ योगी साधारण मानुषीय व्यवहारसे दूरवर्ती जीवनमुक्त परमात्मा होगए हैं। अनंत बल उनको कभी भी असंतुष्ट या क्षीण नहीं अनुभव कराता। अनंत सुख प्रगट होनेसे वे प्रभु पूर्ण आत्मानंदको विना किसी विघ्नबाधा या व्युच्छित्तिके भोगते रहते हैं। मोहनीय कर्मके क्षय होजानेसे प्रभुके क्षायिक सम्यक्त तथा क्षायिक चारित्र विद्यमान है जिससे स्वस्वरूपके पूर्ण श्रद्धानी तथा वीतरागतामें पूर्ण तन्मय हैं। वास्तवमें चार घातिया कर्मोंसे मलीन आत्माओंके लिये चार

देव और साधु दोनोंके भक्त गृही या उपासक होते हैं। चार प्रकारके देव, सब ही नारकी, तथा सैनी तिर्यंच और साधुपद रहित गृहस्थ मनुष्य उपासक हैं।

उपासक उपासकोंकी देव व साधुतुल्य पूजा भक्ति न करके यथायोग्य सत्कार करते हैं। नमस्कारके योग्य तो साधु और देव ही हैं। इसी लिये श्री कुंदकुंदाचार्यने इस गाथामें पांच पदवी धारकोंको नमन किया है। इस चौथे कालमें २४ तीर्थंकर हो गए हैं जो बड़े प्रसिद्ध धर्मप्रचारक हुए हैं उनको अरहंत मानके नमस्कार किया है।

उत्थानिका-आगे फिर भी नमस्कार रूप गाथाको कहते हैं—

ते ते सव्वे समगं, समगं पत्तेगमेव पत्तेयं।
वंदामि य वट्टंते, अरहंते माणुसे खेत्ते ॥ ३ ॥

तान्तान् सर्वान् समकं समकं प्रत्येकमेव प्रत्येकं।
वंदे च वर्तमानानर्हतो मानुषे क्षेत्रे ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ-फिर मैं मनुष्यके ढाई द्वीप क्षेत्रमें वर्तमान सर्व अरहंतोंको एक साथ ही तथा प्रत्येकको अलग २ ही वंदना करता हूं। अथवा उन ऊपर कहे पांच परमेष्ठियोंको एक साथ व अलग २ तथा ढाई द्वीपमें वर्तमान अर्हंतोंको भी नमस्कार करता हूं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(ते ते सव्वे) उन उन हुए सब पंच परमेष्ठियोंको (समगं समगं) समुदाय रूप

वदनाकी अपेक्षा एक साथ एक साथ तथा (पत्तेय पत्तेय) प्रत्येकको अलग २ वदनाकी अपेक्षा प्रत्येक प्रत्येकको (य) और (माणुसे खेत्ते) मनुष्योंके रहनेके क्षेत्र ढाईद्वीपमें (वट्टने) वर्तमान (अरहते) अरहतोंको (वदामि) मैं वन्दना करता हू। भाव यह है कि वर्तमानमें इस भरतक्षेत्रमें तीर्थंकरोंका अभाव है परन्तु ढाईद्वीपके पाच विदेहोंमें श्रीमन्दरस्वामी तीर्थंकर आदि २० तीर्थंकर परमदेव विराजमान हैं इन सबके साथ उन पहले कहे हुए पाच परमेष्ठियोंको नमस्कार करता हू। नमस्कार दो प्रकारका होता है द्रव्य और भाव, इनमें भाव नमस्कार मुख्य है। इस भाव नमस्कारको मैं मोक्षकी साधनरूप सिद्ध भक्ति तथा योग भक्तिसे करता हू। मोक्षरूप लक्ष्मीका स्वयम्वर मडप रूप जिनेन्द्रके दीक्षा कालमें मगलाचार रूप जो अनन्त ज्ञानादि सिद्धके गुणोंकी भावना करना उसको सिद्धभक्ति कहते हैं। वैसे ही निर्मल समाधिमें परिणमन रूप परम योगियोंके गुणोंकी अथवा परम योगके गुणोंकी भावना करनी सो योग भक्ति है। इस तरह इस गाथामें विदेहोंके तीर्थंकरोंके नमस्कारकी मुख्यतासे कथन किया गया।

भावार्थ—श्री कुदकुदाचार्यजी महाराज अपनी अतरग श्रद्धाकी महिमाका प्रकाश करते हुए कहते हैं कि पहले तो जो पहली गाथाओंमें अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पाच परमेष्ठियोंका कथन आया है उन सबको एक साथ भी नमस्कार करता हू तथा प्रत्येकको अलग२ भी नमन करता हू। जब अभेद नयसे देखा जाय तो सर्व परमेष्ठी रत्नत्रयकी अपेक्षा एक रूप हैं तथा भेद नयकी अपेक्षा सर्व ही व्यक्ति रूप अलग २ हैं—अनत सिद्ध

शेषवि स्वभावापेक्षा एक हैं तथापि अपने २ ज्ञानदर्शन सुखवीर्य आदिकी भिन्नताकी तथा अपने २ आनंदके अनुभवकी अपेक्षा सब सिद्ध भिन्न २ हैं। इसी तरह सर्व अरहंत, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु अपनी२ भिन्न आत्माकी सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ हैं— समुदाय रूप युगपत नमस्कार करनेमें पदवी अपेक्षा नमस्कार है तथा अलग २ नमस्कार करनेमें व्यक्तिकी अपेक्षा नमस्कार है। फिर आचार्यने पांच विदेहोंके भीतर विद्यमान सर्व ही अरहंतोंको भी एक साथ व अलग २ नमन करके अपनी गाढ़ भक्तिका परिचय दिया है। वर्तमानमें जम्बूद्वीपमें चार, धातुकी खंडमें आठ तथा पुष्करार्द्धमें आठ ऐसे २० तीर्थंकर अरहंत पदमें साक्षात विराजमान हैं। इनके सिवाय जिनको तीर्थंकर पद नहीं है किन्तु सामान्य केवल ज्ञानी हैं ऐसे अर्हंत भी अनेक विद्यमान हैं उनको भी आचार्यने एक साथ व भिन्न २ नमस्कार किया है। नमस्कारके दो भेद हैं। वचनसे स्तुति व शरीरसे नमन द्रव्य नमस्कार है तथा अंतरंग श्रद्धा सहित आत्माके गुणोंमें लीन होना सो भाव नमस्कार है। इस भाव नमस्कारको टीकाकारने **सिद्धभक्ति** तथा **योगभक्ति** के नामसे सम्पादन किया है। जब तीर्थंकर दीक्षा लेते हैं तब सिद्धभक्ति करके लेते हैं इसलिये टीकाकारने इस भक्तिको दीक्षाक्षणका मंगलाचरण कहा है। अथवा मोक्षलक्ष्मीका स्वयंवर मंडप रचा गया है उसमें सिद्ध भक्ति करना मानो मोक्ष लक्ष्मीके कंठमें वरमाला डाली है। सिद्ध अनंत दर्शन ज्ञान सुख वीर्यादि गुणोंके धारी हैं वैसा ही निश्चयसे मैं हूं ऐसी भावना करनी सो सिद्ध भक्ति है। निर्मल रत्नत्रयकी एकतारूप

समाधि भावमें परिणमन करते हुए परम योगियोंके वैराग्य चारित्रादि गुणोंकी सराहना करके उन गुणोंके प्रेममें अपने मनको जोड़ना सो योग भक्ति है। नमस्कार करते हुए भावोंमें विशुद्धताकी आवश्यक्ता है सो जब नमस्कार करने योग्य पूज्य पदार्थके गुणोंमें परिणाम तल्लीन होते हैं तब ही भाव विशुद्ध होते हैं। इन विशुद्धभावोंके कारण पापकर्मोंका रस सूख जाता है व घट जाता है तथा पुण्य कर्मोंका रस बढ़ जाता है जिससे प्रारंभित कार्यमें विघ्न बाधाएं होनी वन्द होजाती हैं।

उत्थानिका–आगेकी गाथामें ऊपरके कथनको फिर पुष्ट करते हैं–

किच्चा अरहंताणं, सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं, साहूणं चेव सव्वेसिं ॥ ४॥

कृत्वार्हद्भ्यः सिद्धेभ्यस्तथा णमो गणधरेभ्यः।
अध्यापकवर्गेभ्यः साधुभ्यश्चैव सर्वेभ्यः ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ-इस प्रकार सब ही अरहंतोंको, सिद्धोंको गणधर आचार्योंको, उपाध्याय समूह तथा साधुओंको नमस्कार करके (क्या करूंगा सो आगे कहते हैं)।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सव्वेसिं) सर्व ही (अरहंताणं) अरहंतोंको (सिद्धाणं) आठ कर्म रहित सिद्धोंको (गणहराणं) चार ज्ञानके धारी गणधर आचार्योंको (तह) तथा (अज्झावयवग्गाणं) उपाध्याय समूहको और (चेव) तैसे ही (साहूणं) साधुओंको (णमो किच्चा) भाव और द्रव्यसे नमस्कार करके आगे कहूंगा जो कहना है।

भावार्थ-इस गाथामें फिर भी आचार्यने पांच परमेष्ठीकी तरफ अपने भक्ति दिखाकर अपने भावोंको निर्मल किया है। यह उत्कट भक्तिका नमूना है—

उत्थानिका-आगे आचार्य मंगलाचरणके पीछे चारित्र भावको धारण करते हैं ऐसी सूचना करते हैं।

तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं, जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥५॥

तेषां विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रमं समासाद्य।
उपसम्पद्ये साम्यं यतो निर्वाणसम्प्राप्तिः ॥५॥

सामान्यार्थ-उन पांच परमेष्टियोंके विशुद्ध दर्शन ज्ञान मई प्रधान आश्रमको प्राप्त होकर मैं समताभावको धारण करता हूं जिससे मोक्षकी प्राप्ति हो।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तेसिं) उन पूर्वमें कहे हुए पांच परमेष्ठियोंके (विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं) विशुद्ध दर्शन ज्ञानमई लक्षणधारी प्रधान आश्रमको (समासेज्ज) भलेप्रकार प्राप्त होकर (सम्मं) साम्यभाव रूप चारित्रको (उवसंपयामि) भलेप्रकार धारण करता हूं (जत्तो) जिस साम्यभावरूप चारित्रसे (णिव्वाणसंपत्ती) निर्वाणकी प्राप्ति होती है। यहां टीकाकार खुलासा करते हैं कि मैं आराधना करनेवाला हूं तथा ये अर्हंत आदिक आराधना करनेके योग्य हैं ऐसे आराध्य आराधकका यहां विकल्प है उसे द्वैत नमस्कार कहते हैं तथा रागद्वेष आदि उपाधिके भावोंके विकल्पोंसे रहित जो परम समाधि है उसके बलसे आत्मामें ही आराध्य आराधक भाव होना अर्थात् दूसरा कोई भिन्न पूज्य

पूजक नहीं है मैं ही पूज्य हू मैं ही पुजारी हू ऐसा एकत्वभाव थिरता रूप होना उसे अद्वैत नमस्कार कहते हैं। पूर्व गाथाओंमें कहे गए पाच परमेष्टियोंको इस लक्षण रूप द्वैत अथवा अद्वैत नमस्कार करके मठ चैत्यालय आदि व्यवहार आश्रमसे विलक्षण भावाश्रम रूप जो मुख्य आश्रम है उसको प्राप्त होकर मैं वीतराग चारित्रको आश्रय करता हू। अर्थात् रागादिकोंसे भिन्न यह अपने आत्मासे उत्पन्न सुख स्वभावका रखनेवाला परमात्मा है सो ही निश्चयसे मैं हू ऐसा भेद ज्ञान तथा वही परमात्मस्वभाव सब तरहसे ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचिरूपी सम्यग्दर्शन इस तरह दर्शन ज्ञान स्वभावमई भावाश्रम है। इस भावाश्रम पूर्वक आचरणमें आता हुआ जो पुण्य बधका कारण सरागचारित्र है उसे हेय जानकर त्याग करके निश्चल शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप वीतराग चारित्र भावको मैं ग्रहण करता हू।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने स्वानुभवकी ओर लक्ष्य कराया है। यह भाव झलकाया है कि पाच परमेष्ठीको नमस्कार करनेका प्रयोजन यह है कि निज निर्मल दर्शन ज्ञानमई आत्म स्वभावरूपी निश्चय आश्रय स्थानमें पचपरमेष्ठी मौजूद हैं उसी निजात्म स्वभावमई अथवा सम्यक्तपूर्वक भेदज्ञानमई भाव आश्रमको मैं प्राप्त होता हू। पहले व्यवहारमें जो मठ चैत्यालय आदिको आश्रय माना था उस विकल्पको त्याग करता हू। ऐसे निज आश्रममें जाकर मैं पुण्य बधके कारण शुभोपयोग रूप व्यवहार चारित्रके विकल्पको त्यागकर अपने शुद्ध आत्मस्वभावके अनुभव रूप वीतराग चारित्रको अथवा परम शात भावको धारण करता हू

क्योंकि इस वीतराग विज्ञानमई अभेद रत्नत्रय स्वरूप शांतभावके ही द्वारा पूर्वबद्ध कर्मोंके बंधन टूटते हैं तथा नवीन कर्मोंका संवर होता है जिसका अंतिम फल मोक्षका प्रगट होना है। इस कथनसे श्रीकुंदकुंदस्वामीने यह भी दिखलाया है कि सम्यक्ज्ञान पूर्वक वीतराग चारित्रमई परम शांतभावके द्वारा पहले भी जीवोंने निर्वाण लाभ किया व अब भी निर्वाण जा रहे हैं तथा भविष्यमें भी इस हीसे मुक्ति पाएंगे इसलिये जैसे मैंने ऐसे वीतराग चारित्रका आश्रय लिया है वैसे सर्व ही मुमुक्षु जीव इस शाम्यभावका शरण ग्रहण करो क्योंकि यही मोक्षका असली साधन है। इस तरह प्रथम स्थलमें नमस्कारकी मुख्यता करके पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-आगे जिस वीतराग चारित्रका मैंने आश्रय लिया है वही वीतराग चारित्र प्राप्त करने योग्य अतीन्द्रिय सुखका कारण है इससे ग्रहण करने योग्य है तथा सराग चारित्र अतीन्द्रिय सुखकी अपेक्षासे त्यागने योग्य इंद्रिय सुखका कारण है इससे सराग चारित्र छोड़ने योग्य है ऐसा उपदेश करते हैं —

संपज्जदि णिव्वाणं, देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो, दंसणणाणप्पहाणादो ॥ ६ ॥

संपद्यते निर्वाणं देवासुरमनुजराजविभवैः ।
जीवस्य चरित्राद्दर्शनज्ञानप्रधानात् ॥ ६ ॥

सामान्यार्थ-इस जीवको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी मुख्यता पूर्वक चारित्रके पालनेसे देव, असुर तथा मनुष्यराजकी सम्पदाओंके साथ मोक्षकी प्राप्ति होती है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जीवस्स) इस जीवके (दंसणणाणप्पहाणादो) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्रधानता पूर्वक (चरित्तादो) सम्यग्चारित्रके पालनेसे (देवासुरमणुयराय विहवेहिं) कल्पवासी, भवनत्रिक तथा चक्रवर्ती आदि राज्यकी विभूतियोंके साथ (णिव्वाण) निर्वाण (संपज्जदि) प्राप्त होती है। प्रयोजन यह है कि आत्माके आधीन निज सहज ज्ञान और सहज आनंद स्वभाववाले अपने शुद्ध आत्मद्रव्यमें जो निश्चलतामे विकार रहित अनुभूति प्राप्त करना अथवा उसमें ठहरजाना सोही है लक्षण जिसका ऐसे निश्चय चारित्रके प्रभावसे इस जीवके पराधीन इन्द्रिय जनित ज्ञान और सुखसे विलक्षण तथा स्वाधीन अतीन्द्रिय उत्कृष्ट ज्ञान और अनंत सुख है लक्षण जिसका ऐसा निर्वाण प्राप्त होता है। तथा सराग चारित्रके कारण कल्पवासी देव, भवनत्रिकदेव, चक्रवर्ती आदिकी विभूतिको उत्पन्न करनेवाला मुख्यतासे विशेष पुण्यबंध होता है तथा उससे परम्परासे निर्वाण प्राप्त होता है। असुरोंके मध्यमें सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न होता है ? इसका समाधान यह है कि निदान करनेके भावसे सम्यक्तकी विराधना करके यह जीव भवनत्रिकमें उत्पन्न होता है ऐसा जानना चाहिये। यहां भाव यह है कि निश्चय नयसे वीतराग चारित्र उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है तथा सराग चारित्र हेय अर्थात् त्यागने योग्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने उस वीतराग चारित्ररूप शांत भावकी महिमा बताई है जिसका आश्रय उन्होंने किया है। यह वीतराग चारित्र जिसके साथ शुद्धात्मा और उसका

स्वाभाविक आनन्द उपादेय है ऐसा सम्यक्त तथा हमारा आत्मा द्रव्य दृष्टिसे सर्व ही ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागादि भावकर्म तथा शरीरादि नो कर्मोंसे भिन्न है, ऐसा सम्यग्ज्ञान मुख्यतासे ही साक्षात् कर्मोंके बंधको दूर करनेवाला तथा आत्माको पवित्र बना कर निर्वाण प्राप्त करानेवाला है। अभेद या निश्चय रत्नत्रय एक आत्माका ऐसा आत्मीक भाव है जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र तीनोंकी एकता हो रही है। यही भाव शुद्ध है और यही भाव ध्यान है इसीसे ही घातिया कर्म जलजाते और अरहंत पद होता है। इस निश्चय चारित्रकी प्राप्तिके लिये जो देशव्रत या महाव्रत रूप व्यवहार चारित्र पाला जाता है उसमें कुछ सरागता रहती है—वह वीतराग आत्मामें स्थिति रूप चारित्र नहीं है क्योंकि जीवोंके हितार्थ धर्मोपदेश देना, शास्त्र लिखना, भूमि शोधते गमन करना, प्रतिक्रमण पाठ पढना आदि जितने कार्य्य इच्छापूर्वक किये जाते हैं उनमें मंद कषाय रूप संज्वलन रागका उदय है। इसी कारण इस सराग चारित्रसे जितना राग अंश है उसके फल स्वरूप पुण्य कर्मका बंध हो जाता है और पुण्य कर्मके उदयसे देव गति या मनुष्य गति प्राप्त होती है। जैसा विशेष पुण्य होता है उतना विशेष पद अहमिंद्र, इन्द्र, चक्रवर्ती आदिका प्राप्त होता है क्योंकि यह सराग चारित्र भी सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है इसलिये देव या मनुष्यकी पदवी पाकर भी यह भव्य जीव उस पदमें लुब्ध नहीं होता। उदयमें आए हुए पुण्य फलको समताभावसे भोग लेता है तथा निरंतर भावना रखता है कि कब मैं वीतराग चारित्रको प्राप्त करके निर्वाण

सुखका लाभ करूं। इसलिये ऐसे सराग चारित्रसे भी परम्परा निर्वाणका भाजन होजाता है। तौभी इन दोनोंमें साक्षात् मुक्तिका कारण वीतराग चारित्र ही उपादेय है। यह चारित्र यहां भी आत्मानुभव करानेवाला है तथा भविष्यमें भी सदा आनन्दकारक निर्वाणका देनेवाला है।

जैसा इस गाथामें भाव यह है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्रकी एकता निर्वाणका मार्ग है ऐसा ही कथन श्री उमास्वामी आचार्यने अपने मोक्षशास्त्रके प्रथम सूत्रमें कहा है। यथा " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग "।

तात्पर्य यह है कि हमको मोक्षका साधक निश्चय रत्नत्रय मई वीतराग चारित्रको समझना चाहिये और व्यवहार रत्नत्रय मई सराग चारित्रको उसका निमित्त कारण या परम्परा कारण समझना चाहिये।

उत्थानिका-आगे निश्चय चारित्रका स्वरूप तथा उसके पर्याय नामोंके कहनेका अभिप्राय मनमें धारण करके आगेका सूत्र कहते हैं-इसी तरह आगे भी एक सूत्रके आगे दूसरा सूत्र कहना उचित है ऐसा कहते रहेंगे इस तरहकी पातनिका यथासंभव सर्वत्र जाननी चाहिये।

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो ।७।

चारित्रं खलु धर्मो धर्मो यः स शम इति निर्दिष्टः।
मोहक्षोभविहीनः परिणाम आत्मनो हि शमः ॥७॥

अन्वय सहित विशेषार्थ-(दव्वं) द्रव्य (जेण) जिस अवस्था या भावसे (परिणमदि) परिणमन करता है या वर्तन करता है (तक्काल) उसी समय वह द्रव्य (तम्मयत्ति) उस पर्याय या भावके साथ तन्मई हो जाता है ऐसा (पण्णत्त) कहा गया है। (तम्हा) इसलिये (धम्म परिणदो) धर्मरूप भावसे वर्तन करता हुआ (आदा) आत्मा (धम्मो) धर्मरूप (मुणेयव्वो) माना जाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि अपने शुद्ध आत्माके स्वभावमें परिणमन होते हुए जो भाव होता है उसे निश्चय धर्म कहते हैं। तथा पच परमेष्ठी आदिकी भक्ति रूपी परिणति या भावको व्यवहार धर्म कहते हैं। क्योंकि अपनी २ विवक्षित या अविविक्षित पर्यायसे परिणमन करता हुआ द्रव्य उस पर्यायसे तन्मयी होजाता है इसलिये पूर्वमें कहे हुए निश्चय धर्म और व्यवहार धर्मसे परिणमन करता हुआ आत्मा ही गर्म लोहेके पिंडकी तरह अमेद नयसे धर्म रूप होता है ऐसा जानना चाहिये। यह भी इसी लिये कि उपादान कारणके सदृश कार्य होता है ऐसा सिद्धातका वचन है। तथा वह उपादान कारण शुद्ध अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका है। केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें रागद्वेषादि रहित स्वसंवेदन ज्ञान तथा आगमकी भाषासे शुक्ल ध्यान शुद्ध उपादान कारण है। तथा अशुद्ध आत्मा रागादि रूपसे परिणमन करता हुआ अशुद्ध निश्चय नयसे अपने रागादि भावोंका अशुद्ध उपादा[illegible] होता

भावार्थ-इस [illegible] [illegible] कि

धर्म कोई भिन्न [illegible] परि-

णमन रूप है अर्थात् जब आत्मा परभावमें न परिणमन करके अपने स्वभाव भावमें परिणमन करता है तब वह आत्मा ही धर्म रूप हो जाता है। इससे यह बात भी बताई है स्वभाव या गुण हरएक पदार्थमें कहीं अलगसे आते नहीं न कोई किसीको कोई गुण या स्वभाव दे सक्ता है। किंतु हरएक गुण या स्वभाव उस वस्तुमें जिसमें वह होता है उसके सर्व ही अंशोंमें व्यापक होता है। कोई द्रव्यके साथ न कोई गुण मिलता है न कोई गुण द्रव्यको छोडकर जाता है। जैन दर्शनका यह अटल सिद्धांत है कि द्रव्य और गुण प्रदेश अपेक्षा एक हैं—जहां द्रव्य है वहीं गुण है। तथा यह भी जैन सिद्धांत है कि द्रव्य सदा द्रवन या परिणमन किया करता है। अर्थात् गुणोंमें सदा ही विकृति भाव या परिणति हुआ करती है इसलिये द्रव्यको गुण पर्यायवान् कहते हैं। द्रव्यके अनंते गुण प्रति समय अपनी अनंत पर्यायोंको प्रगट करते रहते हैं और क्योंकि हरएक गुण द्रव्यमें सर्वांग व्यापक है इस लिये अनंत गुणोंकी अनंतपर्यायें द्रव्यमें सर्वांग व्यापक रहती हैं। इनमेंसे विचार करनेवाला व कहनेवाला जिस पर्यायपर दृष्टि रखता है वह उसके लिये उस समय विवक्षित या मुख्य हो जाती है, शेष पर्यायें अविवक्षित या गौण रहती हैं। क्योंकि रागद्वेष मोह संसार है, इसलिये सम्यक्त सहित वीतरागता मोक्ष है या मोक्षका मार्ग है। आत्मामें ज्ञानोपयोग मुख्य है इसीके द्वारा आत्मामें प्रकाश रहता है व इस हीके द्वारा आप और परको जानता है। जब यह आत्मा अपने ही आत्माके स्वरूपको जानता हुआ रहता है अर्थात् बुद्धिपूर्वक निज आत्माके सिवाय अन्य

सर्व पदार्थोंसे उदासीन होकर अपने आत्माको ही जाननेमें तन्मय होजाता है अर्थात् आप ही ज्ञाता तथा आप ही ज्ञेय होजाता है, तथा इस ही ज्ञानकी परिणतिको बार बार किया करता है। तब आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वभावमें लीन है ऐसा कहा जाता है उस समय अनंत गुणोंकी ओर पर्यायोंको छोड़कर विशेष रूपमें लेने योग्य पर्यायोंका यदि विचार किया जाता है तो कहनेमें आता है कि उस समय सम्यक्त ज्ञान, चारित्र तीनोंही गुणोंका परिणमन हो रहा है। सम्यक्त परिणति श्रद्धा व रुचि रूप है ही, ज्ञान आपको जानता है यह ज्ञानकी परिणति है तथा पर पदार्थोंसे राग द्वेष न होकर उनसे उदासीनता है तथा निजमें थिरता है यही चारित्रकी परिणति है। भेद नयसे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप तीन प्रकार परिणतियें हो रही हैं, निश्चय रूप अभेद नयसे तीन आत्मई आत्माकी ही परिणति है। इसी कारणसे रत्नत्रयमें परिणमन करता हुआ आत्मा ही साक्षात् धर्मरूप है। इस ही धर्मको वीतराग चारित्र भी कहते हैं। अतएव इस रत्नत्रयमई वीतराग चारित्रमें परिणमन करता हुआ आत्मा ही वीतराग चारित्र है। जैसे अग्निकी उष्णता रूप परिणमन करता हुआ लोहेका गोला अग्निमई होजाता है वैसे वीतरागभावमें परिणमन करता हुआ आत्मा सराग होजाता है। जिस समय पांच परमेष्टीकी भक्ति रूप भावसे वर्तन होरहा है उस समय विचार किया जाय कि आत्माके तीन मुख्य गुणोंका किस रूप परिणमन है तो ऐसा समझमें आता है कि सम्यग्दृष्टी जीवके सम्यक्त गुणका तो रुचि रूप परिणमन है तथा ज्ञान गुणका पांच परमेष्टी ग्रहण करने व भक्ति करने

योग्य है इस ज्ञान रूप परिणमन है तथा चारित्रगुणका मंदकषायके उदयसे शुभ रागरूप परिणमन है इसीलिये इस समय आत्माके सराग चारित्र कहा जाता है तथा आत्माको सराग कहते हैं और यह आत्मा इस समय पुण्यकर्मको बांध स्वर्गादि गतिका पात्र होता है। यहां आचार्यका यही अभिप्राय है कि वीतराग चारित्रमई आत्मा ही उपादेय है क्योंकि इस स्वात्मानुभव रूप वीतराग चारित्रसे वर्तमानमें भी अतीन्द्रिय सुखका लाभ होता है तथा आगामी मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है। इस तरह वीतराग चारित्रकी मुख्यतासे संक्षेपमें कथन करते हुए दूसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ॥८॥

उत्थानिका-आगे यह उपदेश करते हैं कि शुभ, अशुभ तथा शुद्ध ऐसे तीन प्रकारके प्रयोगसे परिणमन करता हुआ आत्मा शुभ, अशुभ तथा शुद्ध उपयोग स्वरूप होता है।

जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

जीवः परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभः।
शुद्धेन तदा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभावः ॥ ९ ॥

सामान्यार्थ-जब यह परिणमन स्वभावी आत्मा शुभ भावसे परिणमन करता है तब शुभ, जब अशुभ भावसे परिणमन करता है तब अशुभ और जब शुद्ध भावसे परिणमन करता है तब शुद्ध होता है ॥ ९ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदा) जब (परिणा

सब्भावो) परिणाम स्वभावधारी (जीव) यह जीव (सुहेण) शुभ भावसे (वा असुहेण) अथवा अशुभ भावसे (परिणमदि) परिणमन करता है तब (सुहो असुहो) शुभ परिणामोंसे शुभ तथा अशुभ परिणामोंसे अशुभ (हवदि) होजाता है। (सुद्धेण) जब शुद्ध भावसे परिणमन करता है (तदा) तब (हि) निश्चयसे (सुद्धो) शुद्ध होता है। इसोका भाव यह है कि जैसे स्फटिक मणिका पत्थर निर्मल होनेपर भी जपा पुष्प आदि लाल, काली, इवेत उपाधिके वशसे लाल, काला, सफेद रंग रूप परिणम जाता है तैसे यह जीव स्वभावसे शुद्धबुद्ध एक स्वभाव होनेपर भी व्यवहार करके गृहस्थ अपेक्षा यथासंभव राग सहित सम्यक्त पूर्वक दान पूजा आदि शुभ कार्योंके करनेसे तथा मुनिकी अपेक्षा मूल व उत्तर गुणोंको अच्छीतरह पालन रूप वर्तनेमें परिणमन करनेसे शुभ है ऐसा जानना योग्य है। मिथ्यादर्शन सहित अविरति भाव, प्रमादभाव, कषायभाव व मन वचनकाय योगोंके हलन चलन रूप भाव इसे पांच कारण रूप अशुभो पयोगमें वर्तन करता हुआ अशुभ जानना योग्य है तथा निश्चय रत्नत्रय मई शुद्ध उपयोगसे परिणमन करता हुआ शुद्ध जानना चाहिये। क्या प्रयोजन है सो कहते हैं कि सिद्धान्तमें जीवके असंख्यात लोकमात्र परिणाम मध्यम वर्णनकी अपेक्षा मिथ्यादर्शन आदि १४ चौदह गुणस्थान रूपसे कहे गए हैं। इस प्रवचनसार प्राभृत शास्त्रमें उनही गुणस्थानोंको संक्षेपसे शुभ अशुभ तथा शुद्ध उपयोग रूपसे कहा गया है। सो ये तीन प्रकार उपयोग १४ गुणस्थानोंमें किस तरह घटते हैं सो कहते हैं। मिथ्यात्व,

सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे कमती २ अशुभ उपयोग है। इसके पीछे असयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा प्रमत्त सयत ऐसे तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे शुभोपयोग है। उसके पीछे अप्रमत्तसे ले क्षीणकषाय तक छ गुणस्थानोंमें तारतम्यसे शुद्धोपयोग है। उसके पीछे सयोगि जिन और अयोगि जिन इन दो गुणस्थानोंमें शुद्धोपयोगका फल है ऐसा भाव है।

भावार्थ-यहा आचार्यने ज्ञानोपयोगके तीन भेद बताए हैं। अशुभ उपयोग शुभ उपयोग और शुद्ध उपयोग। वास्तवमें ज्ञानका परिणमन ही ज्ञानोपयोग है सो उसकी अपेक्षासे ये तीन भेद नहीं है। ज्ञानमें ज्ञानावरणीय कर्मके अधिक २ क्षयोपशमसे ज्ञानका बढता जाना तथा बढते बढते सर्वज्ञानावरणीय कर्मके क्षयसे पूर्णज्ञान होजाना यह तो परिणमन है परतु निश्चयसे अशुभ, शुभ, शुद्ध परिणमन नहीं है। कषाय भावों की कलुषता जो कषायोंके उदयसे ज्ञानके साथ साथ चारित्र गुणको विकार करती हुई होती है उस कलुषताकी अपेक्षा तीन भेद उपयोगके किये गए हैं। शुद्ध उपयोग कलुषता रहित उपयोगका नाम है-आगममें जहाते इस जीवकी बुद्धिमें कषायका उदय होते हुए भी कलुषताका झलकाव नहीं होता किन्तु वीतरागताका भाव होता है वहींसे शुद्धोपयोग माना है और जहा शुद्धोपयोग रूप होनेका राग है व शुद्धोपयोग होनेके कारणोंमें अनुराग है वहा इस जीवके शुभोपयोग है इन दो उपयोगोंको छोड़कर जहा शुद्धोपयोगकी पहचान ही नहीं है न शुद्ध होनेकी रुचि है किन्तु ससारिक सुखकी वासना है-उस वासना सहित

समय मात्र तक ठहरनेवाला है इसलिये इसको बन्ध नहींसा कहना चाहिये क्योंकि हरएक कर्म बंधकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है सो इन तीन गुणस्थानोंमें जघन्य स्थिति भी नहीं पड़ती। सातवेंसे ले १० वें गुणस्थानमें अबुद्धिरूप कषायका उदय है इससे तारतम्यसे जितना शुभपना है उतना वहां कर्मोंका बंध है। चौथेसे ले छठें तक शुभोपयोगकी मुख्यता है। यद्यपि स्वात्मानुभव करते हुए चौथेसे ले ८वें तक शुद्ध भाव भी बुद्धिमें झलकता है तथापि वह अति अल्प है तथा उस स्वात्मानुभवके समयमें भी कषायोंकी कलुषता है इससे उसको शुद्धोपयोग नहीं कहा है। सराग भावसे ये तीन गुणस्थानवाले विशेष पुण्य कर्मका बंध करते हैं। चार अघातिया कर्ममें पुण्य पाप भेद हैं किन्तु घातिया कर्म पापरूप ही हैं—इन घातिया कर्मोंका उदय कषाय कालिमाके साथ १० वें गुणस्थान तक होता है इससे इनका बन्ध भी १० वें गुणस्थान तक रहता है। नीचेके तीन मिथ्यात्वादि गुणस्थानोंमें सम्यक्त न होनेकी अपेक्षा अशुभोपयोग कहा है। यद्यपि इन गुणस्थानोंके जीवोंके भी मंदकषाय रूप दान पूजा जप तपके भाव होते हैं और इन भावोंसे वे कुछ पुण्यकर्म भी बंध करते हैं तथापि मिथ्यात्वके बलसे चार घातियारूप पाप कर्मोंका विशेष बंध होता है। सम्यक्त भूमिकाके विना शुभपना उपयोगमें आता नहीं। जहां निज शुद्धात्मा व उसका अतीन्द्रिय सुख उपादेय है ऐसी रुचि बैठ जाती है वहां सम्यक्त भूमिका बन जाती है तब वहां उपयोगको शुभ कहते हैं। यद्यपि सम्यक्ती गृहस्थके भी आरंभी हिंसा आदि अशुभ उपयोग होता है व

वर्तन करता हुआ चाहे हिंसा करे व जीवदया पाले, चाहे झूठ बोले या सत्य बोले उस जीवके अशुभोपयोग कहा जाता है, इसी अपेक्षा चौथे गुणस्थानसे ही अशुभोपयोगका प्रारम्भ है और बुद्धिपूर्वक धर्मानुराग छठे गुणस्थान तक रहता है उसके आगे नहीं इससे सातवें गुणस्थानसे शुद्धोपयोग है। यदि भावों की शुद्धता की अपेक्षा विचार करें तो जहां कषायोंका अभाव होकर बिलकुल भी कलुषता नहीं है, किन्तु ज्ञानोपयोग पवनवेग बिना निश्चल समुद्रवत् निश्चल स्वस्वरूपाशक्त होजाता है वहीं शुद्धोपयोग है। अरहंत सिद्ध परमात्मामें आत्मा यथास्वरूप है उस समय उपयोगको शुद्ध कहो तो भी ठीक है या शुद्धताका फलरूप हो तो भी ठीक है क्योंकि शुद्ध अनुभवका फल शुद्ध होना है। आत्मा परिणमन स्वभाव है तब ही उसके भीतर ज्ञान और चारित्रका भी अन्य गुणोंकी तरह परिणमन हुआ करता है। कर्म बंध सहित अशुद्ध अवस्थामें ज्ञानका हीन अधिकरूप और चारित्र गुणका अशुभ, शुभ तथा शुद्धरूप परिणमन होता है। इन दो परिणमनोंको व्यवहारमें एक नामसे अशुभ उपयोग, शुभ उपयोग तथा शुद्ध उपयोग कहते हैं। शुद्ध उपयोग पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करता है, शुभोपयोग पापकी निर्जरा तथा विशेषतासे पुण्य कर्मोंका व कुछ पाप कर्मोंका बंध करता है तथा अशुभोपयोग पाप कर्मों हीको बांधता है।

शुद्धोपयोगीके ११ वें, १२ वें तेरहवें गुणस्थानमें जो आश्रव तथा बंध होता है वह योगोंके परिणमनका अपराध है शुद्ध चारित्र व ज्ञानका नहीं। यह आश्रव ईर्यापथ है व बंध एक

समय मात्र बंध उदयनेवाला है इसलिये इसको बन्ध नहींपा कहना चाहिये क्योंकि इसएक कर्म बधकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है सो इन तीन गुणस्थानोंमें जघन्य स्थिति भी नहीं पड़ती। सातवेंसे ले.१० वें गुणस्थानमें अबुद्धिरूप कषायका उदय है इससे तारतम्यसे जितना शुभपना है उतना वहां कर्मोंका बंध है। चौथेसे ले छठे तक शुभोपयोगकी मुख्यता है। यद्यपि स्वात्मानुभव करते हुए चौथेसे ले ८वें तक शुद्ध भाव भी बुद्धिमें झलकता है तथापि वह अति अल्प है तथा उस स्वात्मानुभवके मध्यमें भी कषायोंकी कलुषता है इससे उसको शुद्धोपयोग नहीं कहा है। सराग भावसे ये तीन गुणस्थानवाले विशेष पुण्य कर्मका बंध करते हैं। चार अघातिया कर्ममें पुण्य पाप भेद है किंतु घातिया कर्म पापरूप ही है-इन घातिया कर्मोंका उदय कषाय कालिमाके साथ १० वें गुणस्थान तक होता है इससे इनका बन्ध भी १० वें गुणस्थान तक रहता है। नीचेके तीन मिथ्यात्वादि गुणस्थानोंमें सम्यक्त न होनेकी अपेक्षा अशुभोपयोग कहा है। यद्यपि इन गुणस्थानोंके जीवोंके भी मंदकषाय रूप दान पूजा जप तपके भाव होते हैं और इन भावोंसे वे कुछ पुण्यकर्म भी बंध करते हैं तथापि मिथ्यात्वके बलसे चार घातियारूप पाप कर्मोंका विशेष बंध होता है। सम्यक्त भूमिकाके विना शुभपना उपयोगमें आता नहीं। जहां निज शुद्धात्मा व उसका अतीन्द्रिय सुख उपादेय है ऐसी रुचि बैठ जाती है वहां सम्यक्त भूमिका बन जाती है तब वहां उपयोगको शुभ कहते हैं। यद्यपि सम्यक्ती गृहस्थोंके भी आरंभी हिंसा आदि अशुभ उपयोग होता है –

जिससे ये पापकर्म असाता वेदनीय आदि भी बांधते हैं तथापि संसार कारण न होनेसे व सम्यक्तकी भूमिका रहनेसे उपयोगको शुभ कहा है। सर्व कथन मुख्यता व गौणताकी अपेक्षासे है। प्रयोजन यह है कि जिस तरह बने शुद्धोपयोगकी रुचि रखकर उसीकी प्राप्तिका उद्यम करना चाहिये—इसीसे आनन्दित हो—यही पुरुषार्थ है जिससे यहां भी स्वात्मानंद होता है और परलोकमें भी परम्परा मोक्षकी प्राप्ति होती है। ९॥

उत्थानिका—आगे जो कोई पदार्थको सर्वथा अपरिणामी नित्य कूटस्थ मानते हैं तथा जो पदार्थको सदा ही परिणमन शील क्षणिक ही मानते हैं, इन दोनों एकांत मतोंका निराकरण करते हुए परिणाम और परिणामी जो पदार्थ उनमें परस्पर कथंचित् अभेदभाव दिखलाते हैं। अर्थात् जिसमें अवस्थाएं होती हैं वह द्रव्य तथा उसकी अवस्थाएं किसी अपेक्षासे एक हैं ऐसा कहते हैं।

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥ १० ॥

नास्ति विना परिणाममर्थोऽर्थं विनेह परिणामः ।
द्रव्यगुणपर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिर्वृत्तः ॥ १० ॥

सामान्यार्थ—पर्यायके विना द्रव्य नहीं होता है। और पर्याय द्रव्यके विना नहीं होती है। पदार्थ द्रव्यगुण पर्यायमें रहा हुआ अपने अस्तिपनेसे सिद्ध होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अत्थो) पदार्थ (परिणाम

विना) पर्यायके विना (णत्थि) नहीं रहता है। यहां वृत्तिकारने मुक्त जीवमें बताया है कि सिद्ध पर्यायरूप शुद्ध परिणामको छोड़ कर शुद्ध जीव पदार्थ नहीं होता है क्योंकि यद्यपि परिणाम और परिणामीमें संज्ञा, संख्या, लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भेद है, तौ भी प्रदेश भेद न होनेसे अभेद है। तथा (इह) इस जगतमें (परिणामो) परिणाम (अत्थ विणा) पदार्थके विना नहीं होता है। अर्थात् शुद्ध आत्माकी प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका ऐसी सिद्ध पर्यायरूप शुद्ध परिणति मुक्तरूप आत्म पदार्थके विना नहीं होती है क्योंकि परिणाम परिणामीमें संज्ञादिसे भेद होनेपर भी प्रदेशोंका भेद नहीं है। (दव्वगुणपज्जयत्थो) द्रव्यगुण पर्यायोंमें ठहरा हुआ (अत्थो) पदार्थ (अत्थित्तणिव्वत्तो) अपने अस्तित्वमें रहनेवाला अर्थात् अपने अस्तिपनेसे सिद्ध होता है। यहां शुद्ध आत्मामें लगाकर कहते हैं कि आत्म स्वरूप तो द्रव्य है, उसमें केवल ज्ञानादि गुण हैं तथा सिद्धरूप पर्याय है। शुद्ध आत्म पदार्थ इस तरह द्रव्य गुण पर्यायमें ठहरा हुआ है जैसे सुवर्ण पदार्थ सुवर्ण द्रव्य पीततादि आदि गुण तथा कुंडलादि पर्यायोंमें तिष्ठनेवाला है। ऐसा शुद्ध द्रव्य गुण पर्यायका आधारभूत जो शुद्ध अस्तिपना उससे परमात्म पदार्थ सिद्ध है जैसे सुवर्ण पदार्थ सुवर्ण द्रव्य गुण पर्यायकी सत्तासे सिद्ध है। यहां यह तात्पर्य है कि जैसे मुक्त जीवमें द्रव्य गुण पर्याय परस्पर भाव दिखाए गए हैं तैसे संसारी जीवमें भी मतिज्ञानादि विभाव गुणोंके तथा नर नारकादि विभाव पर्यायोंके होते हुए नय विभागसे यथासं- भव जान लेना चाहिये। तैसे ही पुद्गलादिके भीतर भी।

भावार्थ-यहांपर आचार्य यह दिखलाते हैं कि हरएक पदार्थ परिणाम स्वभावको रखनेवाला है तथा वह परिणाम पलटता रहता है तो भी पदार्थ बना रहता है तथा परिणाम पदार्थसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। द्रव्य गुण पर्यायोंका समुदाय है जैसा कि श्री उमास्वामी आचार्यने भी कहा है "गुणपर्ययवत् द्रव्यम्" इनमेंसे गुण सहभावी होते हैं अर्थात् गुणोंका और द्रव्यका कभी भी सम्बध छूटता नहीं है, न गुण द्रव्यके विना कहीं पाए जाते हैं न द्रव्य कभी गुण विना निर्गुण होसक्ता है। गुणोंके भीतर सदा ही पर्यायें हुआ करती हैं। गुणोंकी अवस्था कभी एकसी रहती नहीं। यदि गुण बिलकुल अपरिणामीके हों अर्थात् जैसेके तैसे पड़े रहें कुछ भी विकार अपनेमें न करें तो उन गुणोंसे भिन्न २ कार्य न उत्पन्न हो। जैसे यदि दूधकी चिकनाई दूधमें एकभी दशामें बनी रहे तो उसमें घी आदिकी चिकनई नहीं बनसक्ती है। यहां पर यह बराबर ध्यानमें रखना चाहिये कि द्रव्य अपने सर्वांगमें अवस्थाको पलटता है इससे उसके सब ही गुण साथ साथ पलट जाते हैं। दूध द्रव्य पलटकर मक्खन छाछ तथा घी रूप होजाता है। उस द्रव्यमें जितने गुण हैं उनमेंसे जिसकी मुख्यता करके देखें वह गुण पलटा हुआ प्रगट होता है। घीकी चिकनईको देखें तो दूधकी चिकनईसे पलटी हुई है। घीके स्वादको देखें तो दूधके स्वादसे पलटा हुआ स्वाद है। घीके वर्णको देखें तो दूधके वर्णसे पलटा हुआ वर्ण है। आकारपना अर्थात् प्रदेशत्व भी द्रव्यका गुण है। आकार पलटे विना एक द्रव्यकी दो अवस्थाएं जिनका आकार भिन्न २ हो नहीं होसक्ती हैं। एक सुवर्णके

कुंडलको तोड़कर जब बाली बनावेंगे तो कुडलसे बालीका आकार भिन्न ही होगा। इस पलटनको आकारका पलटना कहते हैं। द्रव्यमें या उसके गुणोंमें पर्याय दो प्रकारकी होती हैं-एक स्वभाव पर्याय दूसरी विभाव पर्याय। स्वभाव पर्याय सदृश सदृश एकसी होती है स्थूल दृष्टिमें भेद नहीं दिखता। विभाव पर्याय विसदृश होती है इसन प्राय स्थूल दृष्टिसे विदित होजाती है। जैन सिद्धांतने इस जगतको छ द्रव्योंका समुदाय माना है। इनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा सिद्धशुद्ध सब जीव सदा स्वभाव परिणमन करते हैं। इन द्रव्योंके गुणोंमें विसदृश विभाव परिणमन नहीं होता है। सदा ही एक समान ही पर्याय होती हैं। किन्तु सर्व संसारी जीवोंमें पुद्गलके सम्बन्धसे विभाव पर्यायें हुआ करती हैं तथा पुद्गलमें जब कोई अविभागी परमाणु जघन्य अंश स्निग्धता व रूक्षताको रखता है अर्थात् अबंध अवस्थामें होता है तब वह स्वभाव परिणमन करता है। परंतु अन्य परमाणुओंसे बंधनेपर स्कंध अवस्थामें विभाव परिणमन होता है। यद्यपि स्वभाव परिणमन हमारे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं है तथापि हम विभाव परिणमन संसारी जीव तथा पुद्गलोंमें देखकर इस बातका अनुमान करसक्ते हैं कि द्रव्योंमें स्वभाव परिणमन भी होता है, क्योंकि जब परिणमन स्वभाव वस्तु होगी तब ही उसमें विभाव परिणमन भी होसक्ता है। यदि परिणमन स्वभाव द्रव्यमें न हो तो अन्य किसी द्रव्यमें ऐसी शक्ति नहीं है जो बलात्कार किसीमें परिणमन करा सके। काठके नीचे हरा लाल डाक लगानेसे हरा लाल नगीना नहीं चमक सक्ता है क्योंकि काठमें ऐसी परिणमन शक्ति

नहीं है किंतु स्फटिकमणिमें ऐसी परिणमन शक्ति है जो जिस रंगके डांकका संयोग मिलेगा उस रंगरूप झलकने लगीनेके भावको झलकायेगा। हरएक वस्तुकी परिणमन शक्ति भिन्न२ है तथा विजातीय वस्तुओंमें विजातीय परिणमन होते हैं। जैसे चेतन्य स्वरूप आत्माका परिणमन चेतनमई तथा जड़ पुद्गलका परिणमन जड़ रूप अचेतन है। एक पुस्तक रक्खे रक्खे पुरानी पड़ जाती है क्योंकि इसमें परिणमन शक्ति है। इसीसे जब परिणमन होना द्रव्यमें सिद्ध है तब शुद्ध द्रव्य भी इस परिणमन शक्तिको कभी न त्यागकर परिणमन करते रहते हैं। इस तरह सर्व ही द्रव्य तथा आत्मा परिणमन स्वभाव हैं ऐसा सिद्ध हुआ। जब यह सिद्ध होगया कि आत्मा या सर्व द्रव्य परिणमन स्वभाव है तब परिणाम या पर्याय द्रव्यमें सदा ही पाए जाते हैं। जैसे गुण सदा पाए जाते हैं वैसे पर्यायें सदा पाई जाती हैं इसी लिये द्रव्य गुण पर्यायवान है यह सिद्ध है-गुण और पर्यायमें अन्तर यही है कि गुण सदा ये ही द्रव्यमें मिलते हैं जब कि पर्यायें सदा भिन्न२ मिलती हैं। जिस समय एक पर्याय पैदा होती है उसी समय पिछली पर्यायका नाश होता है या यों कहिये कि पिछली पर्यायका नाश उसीको नवीन पर्यायका उत्पाद कहते हैं। इसलिये द्रव्यमें पर्यायकी अपेक्षा हरसमय उत्पाद और व्यय अर्थात् नाश सदा पाए जाते हैं तथा गुण सहभावी रहते हैं इससे वे ध्रौव्य या अविनाशी कहलाते हैं। इसी अपेक्षा जहां "सत् द्रव्यलक्षण" कहा है वहां सत्को उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप कहा है। अर्थात् द्रव्यको तब ही मान सके हैं जब द्रव्यमें ये उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों दशाएं हरसमयमें

पाई जावें। यही भाव इस गाथामें है कि पदार्थ कभी परिणामके विना नहीं मिलेगा और पदार्थके विना परिणाम भी कहीं अलग नहीं मिलसक्ता है इन दोनोंका अविनाभाव सम्बंध है। तथा उसी पदार्थकी सत्ता सिद्ध मानी जायगी जो द्रव्यगुण पर्यायोंमें रहनेवाला है। यहां द्रव्य शब्दसे सामान्य गुण समुदायात्मा लेना चाहिये उसके विशेष गुण और पर्यायें लेनी चाहिये। इस तरह सामान्य और विशेष रूप पदार्थ ही जगतमें सत् है। तात्पर्य यह है कि जब आत्माका स्वभाव परिणमनशील है तब ही यह आत्मा जिस भावरूप परिणमन करेगा उस रूप हो जायगा अतएव शुभ अशुभ भावोंको त्यागकर शुद्ध भावोंमें परिणमना कार्यकारी है। इस तरह शुभ अशुभ शुद्ध परिणामोंकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हुए तीसर स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-आगे वीतराग चारित्र रूप शुद्धोपयोग तथा सराग चारित्र रूप शुभोपयोग परिणामोंका संक्षेपसे फल दिखाते हैं -

धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं, सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं॥११॥

धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः।
प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम्॥ ११॥

सामान्यार्थ-धर्मभावसे परिणमन करता हुआ आत्मा यदि शुद्ध उपयोग सहित होता है तो निर्वाणके सुखको पाता है। यदि शुभ उपयोग सहित होता है तब स्वर्गके सुखको पाता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(धम्मेण) धर्म भावसे

(परिणदप्पा) परिणमन स्वरूप होता हुआ (अप्पा) वह आत्मा (जदि) यदि (सुद्धसपयोगजुदो) शुद्धोपयोग नामके शुद्ध परिणाममें परिणत होता है (णिव्वाणसुहं) तब निर्वाणके सुखको (पावदि) प्राप्त करता है। (व) और यदि (सुहोवयुत्तो) शुभोपयोगमें परिणमन करता है तो (सग्गसुहं) स्वर्गके सुखको पाता है। यहा विस्तार यह है कि यहा धर्म शब्दसे अहिंसा लक्षण धर्म, मुनि श्रावकका धर्म उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म अथवा रत्नत्रय स्वरूप धर्म वा मोह क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम या शुद्ध वस्तुका स्वभाव गृहण किया जाता है। वही धर्म अन्य पर्यायसे अर्थात् [illegible] भावकी अपेक्षा चारित्र कहा जाता है। यह सिद्धांत [illegible] कि 'चारित्त खलु धम्मो" (देखो गाथा ७ वीं [illegible] अपहृत सयम तथा उपेक्षा सयमके भेदसे वा सराग [illegible] भेदसे वा शुभोपयोग, शुद्धोप योगके भेदसे दो प्रकार [illegible] से शुद्ध सप्रयोग शब्दसे कहने योग्य जो शुद्धात्म [illegible] वीतराग चारित्र उससे निर्वाण प्राप्त होता है। [illegible] समाधिमई शुद्धोपयोगकी शक्ति नहीं होती [illegible] शुभोपयोग रूप सराग चारित्र भावसे परिणमन [illegible] और अनाकुलता लक्षण धारी निश्चय सुखसे विपरीत [illegible] उत्पन्न करनेवाला स्वर्ग सुख पाता है। [illegible] सामर्थ्यके होनेपर मोक्षको प्राप्त करता है ऐसा सूत्रका [illegible]।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने शुद्धोपयोगका फल कर्म बधनसे छूटकर मुक्त होना अर्थात् शुद्ध स्वरूप हो जाना बताया

है। आचार्य महाराज अपनी ५वीं गाथामें कही हुई बातकी ही पुष्टि करते हैं कि साम्यभावसे ही आत्मा मुक्त होता है इसी साम्यभावको वीतराग चारित्र चारित्रकी अपेक्षा या कषायोंके शमन या क्षयकी अपेक्षा तथा शुद्धोपयोग निर्विकार क्षोभ रहित ज्ञानोपयोगकी अपेक्षा इसी भावको निश्चय रत्नत्रयमई धर्म व अहिंसाधर्म या वस्तु स्वभाव रूप धर्म या दश धर्मका एकत्व कहते हैं—यही राग द्वेष रहित निर्विकल्प समाधि भाव कहलाता है। इसीको धर्मध्यान या शुक्लध्यानकी अग्नि कहते हैं। इसीको स्वात्मानुभूति व स्वस्वरूपरमण व स्वरूपाचरण चारित्र भी कहते हैं। इसी भावमें यह शक्ति है कि अग्नि जैसे कपासके समूहको जला देती है वैसे यह ध्यानकी अग्नि पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंकी निर्जरा कर देती है तथा नवीन कर्मोंका संवर करती है। जिस भावसे नए कर्म न आवें और पुराने बंधे समय समय असंख्यात गुणे अधिक झड़ें उसी भावसे अवश्य आत्माकी शुद्धि होसक्ती है। जिस कुंडमें नया पानी आना बंद होजावे और पुराना पानी अधिक जोरसे बह जाय वह कुंड अवश्य कुछ कालमें बिलकुल मल रहित हो जावेगा। आत्माके कर्मोंका बंधन कषाय भावके निमित्तसे होता है। इसी कषायको रागद्वेष कहते हैं। उन रागद्वेषके विरोधी भाव अर्थात् वीतराग भावसे अवश्य कर्म झड़ेंगे वास्तवमें जैसा साधन होगा वैसा साध्य सधेगा। जैसी भावना तैसा फल। इसलिये शुद्ध आत्मानुभवसे अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है। यह शुद्धात्मानुभव यहां भी अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद प्रदान करता है तथा भविष्यमें भी सदाके लिये आनन्दमयी बना देता है। यही मुक्तिका साक्षात्

कारण है। श्री अमृतचद्र आचार्यने समयसार कलशमें कहा है—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मन ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ४६ ॥
एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च त चेतति ।
तस्मिन्नेव निरतर विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन् ।
सोऽवश्य समयस्य सारमचिरान्नित्योदय विन्दति ॥४७॥

भावार्थ-सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई आत्माका स्वभाव है। जो मोक्षका इच्छुक है उसे इसी एक मोक्षमार्गकी सदा सेवा करनी योग्य है। निश्चयसे यही एक दर्शन ज्ञानचारित्रमई मोक्षका मार्ग है। जो कोई इसी मार्गमें ही ठहरता है, इसीको ही रात दिन ध्याता है, इसीका ही अनुभव करता है, इसीमें ही निरतर विहार करता है तथा अपने आत्माके सिवाय अन्य द्रव्योंको जो स्पर्श नहीं करता है वही जीव नित्य प्रकाशमान शुद्धात्माका अवश्य ही स्वाद लेता है। इसलिये शुद्धोपयोग साक्षात् मोक्षका कारण होनेसे उपादेय है। परन्तु जिस किसीका उपयोग शुद्ध भावमें नहीं जमता है वह शुभोपयोगमें उपयुक्त होता है। शुद्धोपयोगमें व शुद्धोपयोगके धारक पांच परमेष्टीमें जो प्रीतिभाव तथा इस प्रीति भावके मददगार निमित्तोंमें जो प्रेम उसको शुभोपयोग कहते हैं। इस शुभोपयोगमें ज्ञानी जीव यद्यपि वर्तन करता है तथापि अतरग भावना शुद्धोपयोगके लाभकी होती है। इसी कारणसे ऐसा शुभोपयोगमें वर्तना शीघ्र शुद्धोपयोगकी तरफ उपयोगको मुडनेके लिये निमित्त कारण है, इसीसे इस शुभोपयोग-

को मोक्षका परंपरा कारण कहा गया है। इस शुभोपयोगमें जितना अंश रागभाव होता है उससे अघातिया कर्मोंकी पाप प्रकृतियोंका बंधन होकर पुन्य प्रकृतियोंका बंध होता है इसीसे शुभोपयोगी शुभ नाम, उच्च गोत्र, साता वेदनीय तथा देवायु बांधकर स्वर्गोंमें अतिशय सातामें मग्न देव होजाता है। वहां क्षुधा तृषा रोगादि व धन लाभादिकी आकुलताओंसे तो छूट जाता है किन्तु केवल आकुलतामई इन्द्रिय जनित सुख भोगता है तथापि वहां भी शुद्धोपयोगकी प्राप्तिकी भावना रहती है जिससे वह ज्ञानी आत्मा उन इंद्रिय सुखोंमें तन्मय नहीं होता है किन्तु उनको आकुलताके कारण मानके उनके छूटने व अतीन्द्रय आनन्दके पानेका उत्सुक रहता है। इसने स्वर्गका सम्यग्दृष्टी आत्मा इस मनुष्य भवमें योग्य सामग्रीका सम्बन्ध पाता है जिससे शुद्धोपयोग रूप परिणमन कर सके।

तात्पर्य इस गाथाका यह है कि अशुभोपयोगसे बचकर शुद्धोपयोगमें रमनेकी चेष्टा करनी योग्य है। यदि शुद्धोपयोग न होसके तो शुभोपयोगमें वर्तना चाहिये तथापि इस शुभोपयोगको उपादेय न मानना चाहिये।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिस किसी आत्मामें वीतराग या सराग चारित्र नहीं है उसके भीतर अत्यन्त त्यागने योग्य अशुभोपयोग रहेगा उस अशुभयोगका फल कटुक होता है।

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमइ अच्चंतं ॥१२॥

गतिके क्रम स्थावर शरीरोंको धार धारकर महान संकट उठाता है। मनुष्य गतिमें दरिद्री, दुःखी, रोगी मनुष्य हो बड़े कष्टमे आयु पूरी करता है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव कभी जप, तप, व्रत, उपवास, ध्यान, परोपकार आदि भी करता है उस समय उसकी बाहरी क्रिया कभी शुभ तथा आगमके अनुसार ठीक प्रगट होती है, परन्तु अंतरंगमें मिथ्या अभिप्राय रहनेसे उसका उपयोग गको शुभोपयोग नहीं कहते हैं। यद्यपि यह मिथ्यादृष्टी इस मंद कषायसे अघातिया कर्मोंमें पुण्य प्रकृतियोंको शुभोपयोग की तरह बांधता है व कोई २ शुभोपयोगीसे भी अधिक मंदकषाय होनेसे शुभोपयोगीसे अधिक पुण्य प्रकृतिको बांध लेता है तौ भी संसार भ्रमणका पात्र ही रहता है इससे उस मिथ्यात्वी द्रव्यलिंगी मुनिको भी अशुभोपयोगी कहते हैं। एक महाव्रत सम्यग्दृष्टी व्रतोंको पालता हुआ जब शुभोपयोगसे पुण्य बांध करके १६ सोलह स्वर्ग तक ही जाता है तब मिथ्यादृष्टी द्रव्यलिंगी मुनि बाहर उपयोगमें प्रगट शुभलेश्या के प्रतापसे नौमें ग्रीवक तक चला जाता है। तौ भी वह श्रावक मोक्षमार्गी होनेसे शुभोपयोगी है, तथा द्रव्यलिंगी मुनि संसारमार्गी होनेसे अशुभोपयोगी है। यहां कोई शंका करे कि सम्यग्दृष्टी जब महारम्भमें वर्तता है अथवा क्षत्री या वैश्य कर्ममें युद्धादि करता है या कृषि वाणिज्य करता है या विषयभोगोंमें वर्तता है तब भी क्या उस सम्यग्दृष्टिके उपयोगको शुभोपयोग कहेंगे ? जिस अपेक्षासे यहां अशुभोपयोगकी व्याख्या की है, वह अशुभोपयोग सम्यग्दृष्टीके कदापि नहीं होता है। सम्यग्दृष्टीका महारम्भ भी धर्मसाधनमें परम्परा निमित्तभूत है। अभिप्रायमें सम्यग्दृष्टी

स्वपर हितको ही चाहता है–शत्रुकी भी आत्माका कल्याण चाहता है इससे उसके उपयोगको शुभोपयोग कहसक्ते हैं। यद्यपि चारित्र अपेक्षा अशुभोपयोग है क्योंकि संक्लेश भावोंसे महारंभ करता है तथापि सम्यक्तकी अपेक्षा शुभोपयोग है। जहांतक सम्यग्दृष्टी जीवके प्रवृत्ति मार्ग है वहां तक इसके अशुभोपयोग और शुभोपयोग दोनों होते हैं। चारित्रकी अपेक्षा जब सम्यक्ती तीव्र कषायवान हो महारंभमें प्रवर्तता है, अथवा इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग या पीडाकी चिंतामें होनता है या परिग्रहमें उलझकर कुछ हर्षकर लिया करता है या परिग्रहके वियोगसे कुछ विषाद कर लिया करता है तब इसके अशुभोपयोग होता है और जब व्यवहार चारित्र श्रावक या मुनिका आचरता है तब इसके शुभोपयोग होता है। शुभोपयोगमें धर्मध्यान जब कि अशुभोपयोगमें धर्मध्यान न होकर केवल आर्त और रौद्र ध्यान रहता है। ये दोनों ध्यान अशुभ हैं तथापि पांचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक तक रौद्र ध्यान और छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तविरत मुनितक आर्त ध्यान रहता है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टीके अशुभोपयोग होता है तथापि यह अशुभोपयोग सम्यक्तकी भूमिका सहित है, इस कारण मिथ्यादृष्टीके अशुभोपयोगसे विलक्षण है।

यह अशुभोपयोग भी निर्वाणमें बाधक नहीं है जब कि मिथ्यादृष्टीका शुभोपयोग भी मोक्षमें बाधक है। इसके सिवाय मिथ्यादृष्टीका अशुभोपयोग जैसा पापकर्म बांधता वैसा पापकर्म सम्यग्दृष्टीका अशुभोपयोग नहीं बांधता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टी जीव ४१ प्रकृतियोंका तो बंध ही नहीं करता है इसलिये नरक

नरक, तिर्यञ्च आयुको नहीं बांधता, न वह स्त्री नपुंसक होता है न दीन दुःखी दारिद्री मनुष्य न हीन देव होता है। मिथ्यादृष्टीके जप, तप दानादिको उपचारसे शुभ कहा जाता है। वास्तवमें वह शुभ नहीं है इसीसे मिथ्यादृष्टीके शुभोपयोगका निषेध है, केवल अशुभोपयोग ही होता है। जिसके कारण घोर पाप बांध चारों गतियोंमें दीर्घ कालतक भ्रमण करता है।

तात्पर्य यह है कि अशुभोपयोग त्यागने योग्य है, पाप बंधका कारण है इससे इस उपयोगसे बचना चाहिये तथा शुद्धोपयोग मोक्षका कारण है इससे ग्रहण करना चाहिये और जब शुद्धोपयोग न हो सके तब अशुभोपयोगसे बचनेके लिये शुभोपयोगको हस्तावलम्बनजान ग्रहणकर लेना चाहिये।

इसमें इतना और विशेष जानना कि सम्यक्तकी अपेक्षा जब तक मिथ्यात्व भावका सद्भाव है तबतक उपयोगको अशुभोपयोग कहा जाता है क्योंकि वह मोक्षका परंपरा कारण भी नहीं है। किन्तु जब लेश्याओंकी अपेक्षा विचार किया जाय तब कृष्ण नील कापोत तीन अशुभ लेश्याओंके साथ उपयोगको अशुभोपयोग तथा पीत पद्म शुक्ल तीन शुभ लेश्याओंके साथ उपयोगको शुभोपयोग कहते हैं। इस अर्थसे देखनेसे जब छहों लेश्याएं सैनी पंचेंद्री मिथ्यादृष्टी जीवके पाई जाती हैं तब अशुभोपयोग और शुभोपयोग दोनों उपयोग मिथ्यादृष्टियोंके पाए जाते हैं इसीसे जब शुभलेश्या सहित शुभोपयोग होता है तब मिथ्यादृष्टी जीव चाहे द्रव्यलिंगी श्रावक हो या मुनि, पुण्य कर्मोंको भी बांधते हैं। परंतु उस पुण्यको निरतिशय पुण्य या पापानुबंधी पुण्य कहते हैं। क्योंकि

उस पुण्यके उदयसे इन्द्रादि महापदवी धारक नहीं होते हैं। तथा पुण्यको भोगते हुए बुद्धि पापोंमें झुक जासक्ती है जिससे फिर नर्क निगोदमें चले जाते हैं। इसलिये मिथ्यात्वीका शुभोपयोग व उसका फल दोनों ही सराहनीय नहीं हैं।

इसीसे यही भाव भावना चाहिये कि जिस तरहसे हो तत्वज्ञान द्वारा सम्यक्तकी प्राप्ति करनी योग्य है। १२ ॥

इस तरह [illegible] उपयोग फलको कहते हुए चौथे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे आचार्य शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनोंको निश्चय [illegible] शुद्धोपयोगके अधिकारको प्रारम्भ करते हुए [illegible] शुद्ध आत्माकी भावनाको स्वीकार करते हुए अपने स्वभावमें रहनेके इच्छुक जीवके उत्साह बढ़ानेके लिये शुद्धोपयोगका फल प्रकाश करते हैं। अथवा दूसरी पातनिका या सूचना [illegible] आगे आचार्य शुद्धोपयोगका फल ज्ञान और सुख [illegible] तथापि यहां भी इस पीठिकामें सूचित करते हैं अथवा तीसरी पातनिका यह है कि पहले शुद्धोपयोगका फल निर्वाण बताया था अब यहां निर्वाणका फल अनंत सुख होता है ऐसा कहते हैं। इस तरह तीन पातनिकाओंके भावको मनमें धरकर आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥ १३ ॥

अतिशयमात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तम् ।
अव्युच्छिन्नं च सुखं शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥ १३ ॥

सामान्यार्थ-अति आश्चर्यकारी, आत्मासे ही उत्पन्न, पाच इन्द्रियके विषयोंसे शून्य, उपमा रहित, अनंत और निराबाध सुख शुद्धोपयोगमें प्रसिद्ध अर्थात् शुद्धोपयोगी अरहंत और सिद्धोंके होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सुद्धुवओगप्पसिद्धाण) शुद्धोपयोगमें प्रसिद्धोंको अर्थात् वीतराग परम सामायिक शब्दसे कहने योग्य शुद्धोपयोगके द्वारा जो अरहंत और सिद्ध होगए हैं उन परमात्माओंको (अइसय) अतिशयरूप अर्थात् अनादि कालके संसारमें चले आए हुए इन्द्रादिके सुखोंसे भी अपूर्व अद्भुत परम आल्हाद रूप होनेसे आश्चर्यकारी, (आदसमुत्थं) आत्मासे उत्पन्न अर्थात् रागद्वेषादि विकल्प रहित अपने शुद्धात्माके अनुभवसे पैदा होनेवाला, (विसयातीदं) विषयोंसे शून्य अर्थात् इन्द्रिय विषय रहित परमात्म तत्वके विरोधी पांच इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित, (अणोवमं) उपमा रहित अर्थात् दृष्टांत रहित परमान दमई एक लक्षणको रखनेवाला, (अणंत) अनंत अर्थात् अनंत भविष्यकालमें विनाश रहित अथवा अप्रमाण (च) तथा (अव्वुच्छिण्णं) विघ्नरहित अर्थात् असाताका उदय न होनेसे निरंतर रहनेवाला (सुहं) आनन्द रहता है। यही सुख उपादेय है इसीको निरंतर भावना करनी योग्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने साम्यभाव या शुद्धोपयोगका फल यह बताया है कि शुद्धोपयोगके प्रतापसे संसारी आत्माके गुणोंके रोकनेवाले घातिया कर्म छूट जाते हैं। तब आत्माके मण्डल गुण विकसित होजाते हैं। उन सब गुणोंमें मुख्य सुख

नामा गुण है। क्योंकि सभी संसारी जीवोंके अंतरंगमें सुख पानेकी इच्छा रहती है। सब ही निराकुल तथा सुखी होना चाहते हैं इन्द्रियोंके विषय भोगके कल्पना मात्र सुखसे यह जीव न कभी निराकुल होता है न सुखी होता है। सच्चा सुख आत्माका स्वभाव है वही सच्चा सुख कर्मोंके आवरण हटनेसे प्रगट होजाता है। इसी सुखका स्वभाव यहां कहते हैं। वह सुख इस प्रकारका है कि बड़े २ इन्द्र चक्रवर्ती भी जिस सुखको इन्द्रिय भोगोंको करते करते नहीं पासक्ते हैं तथा जिस जातिका आल्हाद इस आत्मीक सुखमें है वैसा आनन्द इन्द्रिय भोगोंसे नहीं प्राप्त होसक्ता है। इंद्रिय सुख आकुलता रूप है, अतीन्द्रिय सुख निराकुल है इसीसे अतद्रूप रूप है। इन्द्रिय सुख पराधीन है क्योंकि अपने शरीर व अन्य चेतन अचेतन वस्तुओंके अनुकूल परिणमनके आधीन है, जब कि आत्मीक सुख स्वाधीन है जो कि आत्माका स्वभाव होनेसे आत्मा ही के द्वारा प्रगट होता है। इन्द्रिय सुख इन्द्रिय द्वारा योग्य पदार्थोंके विषयको ग्रहण करनेसे अर्थात् जाननेसे होता है जब कि आत्मीक सुखमें विषयोंके ग्रहण या भोगका कोई विकल्प ही नहीं होता है। आत्मीक सुखके समान इस लोकमें कोई और सुख नहीं है जिससे इस सुखका मिलान किया जाय इससे यह आत्मीक सुख उपमा रहित है, इंद्रिय सुख अंत सहित विनाशीक व अल्प होता है जब कि आत्मिक सुख अंत रहित अविनाशी और अप्रमाण है, इंद्रिय सुख असाताका उदय होनेसे व साताके क्षयसे छूट जाता है निरन्तर नहीं रहता जब कि आत्मीक सुख निरन्तर बना रहता है। जब पूर्णपने प्रगट होजाता है तब अनन्तकाल तक

विना किसी विघ्नबाधाके अनुभवमें आता है।

अरहत भगवानके ऐसा अनुपम सुख उत्पन्न होजाता है सो सिद्धोंके सदाकाल बना रहता है। यद्यपि इस सुखकी पूर्ण प्रगटता अर्हतोंके होती है तथापि चतुर्थ गुणस्थानमें इस सुखके अनुभवका प्रारंभ होजाता है। जिस समय मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीका पूर्ण उपशम होकर उपशम सम्यग्दर्शन जगता है उसी समय स्वात्मानुभव होता है तथा इस आत्मीक आनन्दका स्वाद आता है। इस सुखके स्वाद लेनेसे ही सम्यक्त भाव है ऐसा अनुमान किया जाता है। यहांसे लेकर श्रावक व [illegible] अवस्थामें जब जब इस महात्माके अपने [illegible] की सन्मुखता [illegible] है तब तब स्वात्म [illegible] होकर इस आ [illegible] मीक सुखका [illegible] होता है। क्षायिक ज्ञान और अन्तरायक्षय होनेपर इस [illegible] सुखका निर्मल और निरंतर प्रकाश केवलज्ञानी अर्हतके [illegible] है और फिर वह प्रकाश कभी भी पुराना व मंद नहीं हो [illegible] है।

तात्पर्य यह है कि जिस साम्यभावसे आत्मीक आनन्दकी प्राप्ति होती है उस साम्यभावके लिये पुरुषार्थ करके उद्यम करना चाहिये। वही अब भी सुख प्रदान करता है और भावीकालमें भी सुखदाई होगा। निर्वाणमें भी इसी उत्तम आत्मीक आनंदका प्रकाश सदा रहता है इसी लिये मोक्ष या निर्वाण ग्रहण करने योग्य है। उसका उपाय शुद्धोपयोग है। सोही भावने योग्य है।

उत्थानिका—आगे जिस शुद्धोपयोगके द्वारा पहले कहा हुआ आनन्द प्रगट होता है उस शुद्धोपयोगमें परिणमन करनेवाले पुरुषका लक्षण प्रगट करते हैं—

सुविदिदपदत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोव-
ओगोत्ति ॥१४॥

सुविदितपदार्थसूत्र संयमतप संयुतो विगतराग ।
श्रमण समसुखदु खो भणित शुद्धोपयोग इति ॥ १४ ॥

सामान्यार्थ–जिसने भले प्रकार पदार्थ और उनके बतानेवाले सूत्रोंको जाना है, जो संयम और तपसे संयुक्त है, वीतराग है और दु ख सुखमें ममता रखनेवाला है सो साधु शुद्धोपयोगी कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(सुविदिदपदत्थसुत्तो) भले प्रकार पदार्थ और सूत्रोंको जाननेवाला, अर्थात् संशय विमोह विभ्रम रहित होकर जिसने अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थोंको और उनके बतानेवाले सूत्रोंको जाना है और उनकी रुचि प्राप्त की है, (संजमतवसंजुदो) संयम और तप संयुक्त है अर्थात् जो बाह्यमें द्रव्येंद्रियोंसे उपयोग हटाते हुए और पृथ्वी आदि छ कायोंकी रक्षा करते हुए तथा अंतरंगमें अपने शुद्ध आत्माके अनुभवके बलसे अपने स्वरूपमें संयम रूप ठहरे हुए हैं तथा बाह्य व अंत रंग बारह प्रकार तपके बलसे काम क्रोध आदि शत्रुओंसे जिसका प्रताप खंडित नहीं होता है और जो अपने शुद्ध आत्मामें तप रहे हैं, जो (विगदरागो) वीतराग हैं अर्थात् वीतराग शुद्ध आत्माकी भावनाके बलसे सर्व रागादि दोषोंसे रहित हैं (समसुह दुक्खो) सुख दु खमें समान हैं अर्थात् विकार रहित और विकल्प रहित समाधिसे उत्पन्न तथा परमानन्द सुखरसमें लवलीन ऐसी

निर्विकार स्वसंवेदन रूप जो परम चतुराई उसमें थिरीभूत होकर इष्ट अनिष्ट इन्द्रियोंके विषयोंमें हर्ष विषादको त्याग देनेसे समता भावके धारी हैं ऐसे गुणोंको रखनेवाला (समण) परममुनि (सुद्धोवओग) शुद्धोपयोग स्वरूप (भणिओ) कहा गया है (त्ति) ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने निर्वाणका कारण जो शुद्धोपयोग है उसके धारी परम साधुका स्वरूप बताया है। यद्यपि स्वस्वरूपमें थिरताको प्राप्त करना सम्यक् चारित्र है। और यही शुद्धोपयोग है। तथापि व्यवहार चारित्रके निमित्तकी आवश्यक्ता है। क्योंकि हरएक कार्य्य उपादान और निमित्त कारणोंसे होता है। यदि दोनोंमेंसे एक कारण भी न हो तो कार्य्य होना अशक्य है। आत्माकी उन्नति आत्मा ही के द्वारा होती है। आत्मा स्वयं आत्माका अनुभव करता हुआ परमात्मा होजाता है। जैसे वृक्ष आप ही स्वयं रगडकर अग्निरूप होजाता है।

जैसा समाधिशतकमें श्री पूज्यपाद स्वामीने कहा है –

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरु ॥

भावार्थ यह है कि आत्मा अपनी ही उपासना करके परमात्मा होजाता है। जैसे वृक्ष आप ही अपनेको मथनकरके अग्निरूप होजाता है। इस दृष्टांतमें भी वृक्षके परस्पर रगडनेमें पवनका संचार निमित्तकारण है। यदि वृक्षकी शाखाएं पवन विना थिर रहें तो उनसे अग्निरूप परिणाम नहीं पदा होसक्ता है।

आत्माकी शुद्ध परिणतिके होनेमें भी निमित्तकी आवश्यक्ता है उसीकी तरफ लक्ष्य देकरके आचार्य शुद्धोपयोगके लिये कौन२ निमित्तकी आवश्यक्ता है उसको कहते हुए शुद्धोपयोगी मानवका स्वरूप बताते हैं। सबसे पहला विशेषण यह दिया है कि उसको जिनवाणीके रहस्यका अच्छीतरह ज्ञान होना चाहिये। जिनशासनमें कथन निश्चय और व्यवहार नयके द्वारा इस लिये किया गया है कि जिससे अज्ञानी जीवको अपनी वर्तमान अवस्थाके होनेका कारण तथा उस अवस्थाके दूर होनेका उपाय विदित हो और यह भी खबर पड़े कि निश्चय नयसे वास्तवमें जीव और अजीवका क्या २ स्वरूप है तथा शुद्ध आत्मा किसको कहते हैं। जिनशासनमें छ द्रव्य, पचास्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थोंका ज्ञान अच्छी तरह होनेकी जरूरत है जिससे कोई संशय शेष न रहे। जबतक यथार्थ स्वरूपका ज्ञान न होगा तबतक भेद विज्ञान नहीं होसक्ता है। भेदज्ञान विना स्वात्मानुभव व शुद्धोपयोग नहीं होसक्ता। इसलिये शास्त्रके रहस्यका ज्ञान प्रबल निमित्तकारण है। दूसरा विशेषण यह बताया है कि उसे शुद्धात्मा आदि पदार्थोंका ज्ञाता और श्रद्धावान होकर चारित्रवान भी होना चाहिये इसलिये कहा है कि वह सयमी हो और तपस्वी हो जिससे यह स्पष्टरूपसे प्रगट है कि वह महाव्रती साधु होना चाहिये क्योंकि पूर्ण इन्द्रिय सयम तथा प्राण सयम इस ही अवस्थामें होसक्ता है। गृहस्थकी श्रावक अवस्थामें आरभ परिग्रहका थोड़ा या बहुत सम्बन्ध रहनेसे सयम एकदेश ही पलसक्ता है पूर्ण नहीं पलता है। सयमीके साथ २ तपस्वी भी हो। उप-

वास, वेला, तेला, रसत्याग, अटपटी आखरी, कठिन स्थानोंमें ध्यान करना आदि गुण विशष्ट हो तब ही शुद्धोपयोगके जगनेकी शक्ति होसक्ती है। जिसका मन ऐसा वशमें हो कि कठिन कठिन उपसर्ग पड़ने पर भी चलायमान न हो, शरीरका ममत्व जिसका बिलकुल हट गया होगा उसीके अपने स्वरूपमें रमता होना सम्भव है। नग्न स्वरूप रहना भी बड़ी भारी निस्पृहताका काम है। इसी लिये साधुको सर्व वस्त्रादि परिग्रह त्याग बालकके समान निर्विकार रहित रहना चाहिये। साधुके चारित्रको पालनेवाला ही शुद्धोपयोगका अधिकारी होसक्ता है। तीसरा विशेषण वीतराग है। इस विशेषणमें अतरग भावोंकी शुद्धताका विचार है। जिसका अंतरग आत्माकी ओर प्रेमालु तथा जगत व शरीर व भोगोंसे उदासीन हो वही शुद्ध आत्म भावको पासक्ता है। निरंतर आत्म रसका पिपासू ही शुद्धोपयोगका अधिकारी होसक्ता है। चौथा विशेषण यह दिया है कि जिसकी इतनी कषायोंकी मंदता हो गई है कि जिसके सांसारीक सुखके होने हुए हर्ष होता नहीं व दुःख व क्लेशके होनेमें दुःखभाव व आर्तभाव नहीं प्रगट होता है। जिनकी पूजा की जाय अथवा जिनकी निन्दा की जाय व खड्गका प्रहार किया जावे तौ भी हर्ष व विषाद नहीं हो। जो तलवारकी चोटको भी फूलोंका हार मानते हों जिन्होंने शरीरको अपने आत्मासे बिल्कुल भिन्न अनुभव किया है वे ही जगतके परिणमनमें समताभाव रखते हैं। इन विशेषणों कर सहित साधु जब ध्यानका अभ्यास करता है तब सविकल्प भावमें रमते हुए निर्विकल्प भावमें आजाता है जब वह उसमें जमा रहता है तब तक इस साधुके शुद्धोपयोग

कहा जाता है। इसीलिये आगममें शुद्धोपयोग सातवें अप्रमत्त गुणस्थानसे कहा गया है। सातवें गुणस्थानसे नीचे भी चौथे गुणस्थान आदि धारकोंके भी कुछ अंश शुद्धोपयोग होजाता है परन्तु वहां शुभोपयोग अधिक होता है इसीसे शुद्धोपयोग न कह कर शुभोपयोग कहा है।

यहां आचार्यकी यही सूचना है कि निर्वाणके अनुपम सुखका कारण शुद्धोपयोग है। इसलिये परम सुखी होनेवाले आत्माको अशुभोपयोग व शुभोपयोगमें न रमकर मात्र शुद्धोपयोगकी प्राप्तिका उद्यम करना चाहिये। यदि संयम धारनेकी शक्ति हो तो मुनिपदमें आकर विशेष उद्यम करना योग्य है-मुनिपदके बाहरी आचरणको निमित्तकारण मात्र मानकर अंतरंग स्वरूपाचरणका ही लाभ करना योग्य है। बाहरी आचरणके विकल्पमें ही अपने समयको न खोदेना चाहिये। जो मुनिका संयम नहीं पालसक्के वे एक देश संयमको पालते हुए भी शुद्धोपयोगकी भावना करते हैं तथा अनुभव दशामें इस स्वात्मानुभव रूप शुद्धोपयोगका स्वरूप वेदकर सुखी रहते हैं। भाव यह है कि जिस तरह हो शुद्धोपयोग व उसके धारी महा पुरुषोंको ही उपादेय मानना चाहिये।

इस तरह शुद्धोपयोगका फल जो अनंत सुख है उसके पाने योग्य शुद्धोपयोगमें परिणमन करनेवाले पुरुषका कथन करते हुए पांचवें स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-इस प्रवचनसारकी व्याख्यामें मध्यम रुचि धारी शिष्यको समझानेके लिये मुख्य तथा गौण रूपसे

अतएव तत्त्व आत्मा और बाह्य तत्त्व अन्य पदार्थ इनके वर्णन करनेके लिये पहले ही एकसौ एक गाथामें ज्ञानाधिकारको कहेंगे। इसके पीछे एकसौ तेरा गाथाओंमें दर्शनका अधिकार कहेंगे। उसके पीछे सत्तानवें गाथाओंमें चारित्रका अधिकार कहेंगे। इस तरह समुदायसे तीनसौ ग्यारह सूत्रोंसे ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप तीन महा अधिकार हैं। अथवा टीकाके अभिप्रायसे सम्यग्ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र अधिकार चूलिका सहित अधिकार तीन हैं।

इन तीन अधिकारोंमें पहले ही ज्ञान नामके महाअधिकारमें बहत्तर गाथा पर्यंत शुद्धोपयोग नामके अधिकारको कहेंगे। इन ७२ गाथाओंके मध्यमें "एस सुरासुर" इस गाथाको आदि लेकर पाठ क्रमसे चौदह गाथा पर्यंत पीठिकारूप कथन है जिसका व्याख्यान कर चुके हैं। इसके पीछे ७ सात गाथाओं तक सामान्यसे सर्वज्ञकी सिद्धि करेंगे। इसके पीछे तेतीस गाथाओंमें ज्ञानका वर्णन है। फिर अठारह गाथा तक सुखका वर्णन है। इस तरह अंतर अधिकारोंसे शुद्धोपयोगका अधिकार है। आगे पचीस गाथा तक ज्ञान कंठिका चतुष्टयको प्रतिपादन करते हुए दूसरा अधिकार है। इसके पीछे चार स्वतंत्र गाथाएं हैं इस तरह एकसौ एक गाथाओंके द्वारा प्रथम महा अधिकारमें समुदाय पातनिका जाननी चाहिये।

यहां पहली पातनिकाके अभिप्रायसे पहले ही पांच गाथाओं तक पांच परमेष्टीको नमस्कार आदिका वर्णन है, इसके पीछे सात गाथाओं तक ज्ञानकंठिका चतुष्टयकी पीठिकाका व्याख्यान है इनमें भी पांच स्थल हैं। जिसमें आदिमें नमस्कारकी मुख्यतासे गाथाएं

पात्र हैं फिर चारित्रकी सूचनाकी मुख्यतासे "सपज्जइ णिव्वाण" इत्यादि गाथाए तीन हैं, फिर शुभ, अशुभ शुद्ध उपयोगकी सूचनाकी मुख्यतासे "जीवो परिणमदि" इत्यादि गाथाए दो हैं फिर उनके फल कथनकी मुख्यतासे "धम्मेण परिणदप्पा" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर शुद्धोपयोगको ध्यानेवाले पुरुषके उत्साह बढानेके लिये तथा शुद्धोपयोगका फल दिखानेके लिये पहली गाथा है। फिर शुद्धोपयोगी पुरुषका लक्षण कहते हुए दूसरी गाथा है इस तरह "अइसइमादसमुत्थ" को आदि लेकर दो गाथाए हैं। इस तरह पीठिका नामके पहले अतराधिकारमें पाच स्थलके द्वारा चौदह गाथाओंसे समुदाय पातनिका कही है, जिसका व्याख्यान हो चुका।

इस तरह १४ गाथाओंके द्वारा पाच स्थलोंसे पीठिका नामका प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

आगे सामान्यसे सर्वज्ञकी सिद्धि व ज्ञानका विचार तथा सक्षेपसे शुद्धोपयोगका फल कहते हुए गाथाए सात हैं। इनमें चार स्थल हैं। पहले स्थलमें सर्वज्ञका स्वरूप कहते हुए पहली गाथा है, स्वयभूका स्वरूप कहते हुए दूसरी इस तरह "उवओग विसुद्धो" को आदि लेकर दो गाथाए हैं। फिर उस ही सर्वज्ञ भगवानके भीतर उत्पाद व्यय ध्रौव्यपन स्थापित करनेके लिये प्रथम गाथा है। फिर भी इस ही बातको दृढ करनेके लिये दूसरी गाथा है। इस तरह "भग विहीणो" को आदि लेकर दो गाथाए हैं। आगे सर्वज्ञके श्रद्धान करनेसे अनन्त सुख होता है। इसके दिखा नेके लिये "त सव्वट्ठ वरिट्ठ" इत्यादि सूत्र एक है। आगे

वह होजाता है । बुद्धिमें स्वात्म रस स्वाद ही अनुभवमें आता है । इस स्वात्मानुभव रूपी उत्कृष्ट धर्मध्यानके द्वारा कषायोंका बल घटता जाता है । ज्यों ज्यों कषायका उदय निर्बल होता जाता है त्यों २ अनन्त गुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है । जहांपर समय २ अनन्त गुणी विशुद्धता होती है वहींसे अधःकरणलब्धि का प्रारम्भ होता है यह दशा सातवेंमें ही अंतमुहूर्त तक रहती है । तब ऐसे परिणामोंकी विशुद्धता बढ़ती है कि जो विशुद्धता अधःकरणसे भिन्न जातिकी है । यह भी समय २ अनन्त गुणी बढ़ती जाती है । इसकी उन्नतिके कालको अपूर्वकरण नामका आठवां गुणस्थान कहते हैं । फिर और भी विलक्षण विशुद्धता अनंतगुणी बढ़ती जाती है क्योंकि कषायोंका बल यहां बहुत ही तुच्छ होजाता है । यह दशा अंतर्मुहूर्त रहती है । इस वर्णनको अनिवृत्तिकरणलब्धि कहते हैं । इस तरह विशुद्धताकी उन्नतीसे सर्व मोहनीय कर्म नष्ट होजाता है केवल सूक्ष्म लोभका उदय रह जाता है । आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानसे पृथक्त्ववितर्क वीचार नामका प्रथम शुक्लध्यान शुरू होजाता है । यही ध्यान सूक्ष्मलोभ नामके दशवें गुणस्थानमें भी रहता है। यद्यपि इस ध्यानमें शब्द, पदार्थ तथा योगका पलटना है तथापि यह सब पलटन ध्याताकी बुद्धिके अगोचर होता है । ध्याताका उपयोग तो आत्मस्थ ही रहता है। वह आत्मीक रसमें मगन रहता है। इसी स्वरूपमगनताके कारण आत्मा दशवें गुणस्थानके अंतर्मुहूर्त कालमें ही सूक्ष्म लोभको भी नाशकर सर्व मोहकर्मसे छूटकर निर्मोह वीतरागी होजाता है तब इसको क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती कहते हैं। अब यहां मोहके चले

जानेसे ऐसी निश्चलता व वीतरागता होगई है कि यह आत्मा बिल्कुल ध्यानमें तन्मयी है यहां पलटना बंद हो रहा है। इसीसे यहां एकत्व वितर्क अवीचार नामका दूसरा शुक्लध्यान होता है। यहांके परम निर्मल उपयोगके द्वारा यह आत्मा अंतर्मुहूर्तमें ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, तथा अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंके बन्धको क्षीण करता हुआ अंत समयमें इनका सर्वथा नाश कर अर्थात अपने आत्मासे इनको बिल्कुल उड़ाकर शुद्ध अरहंत परमात्मा होजाता है। आत्माके स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य क्षायिकसम्यक्त व वीतरागता आदि गुण प्रगट होजाते हैं। अब इसको पूर्ण निराकुलता हो जाती है। क्योंकि सर्व दुःख व आकुलताके कारण मिट जाते हैं। परिणामोंमें आकुलताके कारण ज्ञानदर्शनकी कमी, आत्मबलकी हीनता तथा रागद्वेष कषायोंका चक्र है। यहांपर अनंत ज्ञानदर्शनवीर्य व वीतराग भाव प्रगट हो जाते हैं इससे आकुलताके सब कारण मिट जाते हैं। अरहंत परमात्मा सर्वको जानते हुए भी अपने आत्मीक स्वादमें मगन रहते हैं। यह अरहंत पद महान पद है। जो इस पदमें जाता है वह जीवन मुक्त परमात्मा हो जाता है उसके अलौकिक लक्षण प्रगट हो जाते हैं, उसके मति श्रुत अवधि मनपर्यय ये ज्ञान नहीं रहते—ये ज्ञान सब केवलज्ञानमें समाजाते हैं, ऐसा अद्भुत सर्वज्ञपद जिसके सर्व इन्द्र गणेन्द्र विद्याधर राजा आदि पूजा करते हैं, मात्र शुद्धोपयोग द्वारा आत्मामें प्रगट होजाता है ऐसा जान विचार द्वारा धर्मध्यान चित ठान आत्मानंद रसमें तन्मई हो शुद्धोपयोग का विलास भोगना चाहिये। यहां इतना

और जानना कि आचार्यने मूल गाथामें कर्म रजको वर्णन किया है इससे यह सिद्ध किया है कि कर्म पुद्गल द्रव्यसे रची हुई कार्माण वर्गणाएं हैं जो वास्तवमें मूल द्रव्य हैं कोई कल्पित नहीं हैं। कर्म बन्धकी बात अजैन लोग भी करते हैं परन्तु अजैन ग्रंथोंमें स्पष्ट रीतिसे कर्म वर्गणाओंके बंध, फल व खिरने आदिका वर्णन नहीं है। जैन ग्रंथोंमें वैज्ञानिक रीतिसे कर्मोंको पुद्गलमई बतलाकर उनके कार्यको व उनके स्वभावको बताया है। दूसरा अभिप्राय यह भी सूचित किया है कि आत्मामें पूर्ण ज्ञानकी शक्ति स्वयं विद्यमान है कुछ नई पैदा नहीं होती है। कर्म रजके कारण शक्तिकी प्रगटता नहीं होती है शक्तिको प्रगट होनेमें बाधकपना ही कर्म पुद्गलका अपराध है इसलिये शुद्धोपयोगके बलसे जब पुद्गल आत्मासे भिन्न हो जाते हैं तब आत्माकी शक्तियें प्रगट होजाती हैं।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि शुद्धोपयोगसे उत्पन्न जो शुद्ध आत्माका लाभ है उसके होनेमें भिन्न कारककी आवश्यक्ता नहीं है। किंतु अपने आत्मा ही के आधीन है।

तह सो लद्धसहावो, सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा, हवदि सयंभुत्ति णिद्दिट्ठो ॥ १६ ॥

तथा स लब्धस्वभावः सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितः।
भूतः स्वयमेवात्मा भवति स्वयम्भूरिति निर्दिष्टः ॥ १६ ॥

सामान्यार्थ-तथा वह आत्मा स्वयमेव ही बिना किसी परकी सहायताके अपने स्वभावको प्राप्त हुआ सर्वज्ञ तीन लोकका पति तथा इन्द्रादिसे पूजनीय होजाता है इसी लिये उसको स्वयंभू कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तह) तथा (सो आदा) वह आत्मा (सयमेव) स्वय ही (लद्धसहाव भूर) स्वभावका लाभ करता हुआ अर्थात् निश्चय-रत्नत्रय लक्षणमई शुद्धोपयोगके प्रसादसे जैसे आत्मा सर्वका ज्ञाता हो जाता है वैसा वह शुद्ध आत्माके स्वभावका लाभ करता हुआ (सव्वण्हू) सर्वज्ञ व (सव्व-लोयपदमहिदो) सर्व लोकका पति तथा पूजनीय (हवदि) हो जाता है इस लिये वह (सयभुत्ति) स्वयभू इस नामसे (णिदिट्ठो) कहा गया है। भाव यह है कि निश्चयसे कर्त्ता कर्म आदि छ कारक आत्मामें ही है। अभिन्न कारकको अपेक्षा यह आत्मा चिदानन्दमई एक चैतन्य स्वभावके द्वारा स्वतन्त्रता रखनेसे स्वय ही अपने भावका कर्ता है तथा नित्य आनन्दमई एक स्वभावसे स्वय अपने स्वभावको प्राप्त होता है इसलिये यह आत्मा स्वय ही कर्म है। शुद्ध चैतन्य स्वभावसे यह आत्मा आप ही साधकतम है अर्थात् अपने भावसे ही आपका स्वरूप झलकाता है इसलिये यह आत्मा आप ही करण है। विकार रहित परमानन्दमई एक परिणति रूप लक्षणको रखनेवाली शुद्धात्मभाव रूप क्रियाके द्वारा अपने आपको अपना स्वभाव समर्पण करनेके कारण यह आत्मा आप ही सम्प्रदान स्वरूप है। वैसे ही पूर्वमें रहनेवाले मति श्रुत आदि ज्ञानके विकल्पोंके नाश होनेपर भी अखंडित एक चैतन्यके प्रकाशके द्वारा अपने अविनाशी स्वभावसे ही यह आत्मा आपका प्रकाश करता है इसलिये यह आत्मा आप ही अपादान है। तथा यह आत्मा निश्चय शुद्ध चैतन्य आदि गुण स्वभावका स्वय ही आधार होनेसे आप ही अधिकरण होता है। इस तरह अभेद

षट् - कर्म स्वयं ही परिणमन करता हुआ यह आत्मा परमात्म स्वभाव तथा केवल ज्ञानकी उत्पत्तिमें भिन्नकारककी अपेक्षा नहीं रखता है इसलिये आप ही स्वयम् कहलाता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह दिखलाया है कि अर्हंत परमात्माको स्वयभू क्यों कहते हैं। यही शुद्धोपयोगमें परिणमता हुआ आत्मा आपहीसे अपने भावको अपने लिये आपमेंसे आपमें ही समर्पण करता है। षट् कारकोंका विकल्प कार्योंमें हुआ करता है। इस विकल्पके दो भेद हैं-अभिन्न षट्कारक और भिन्न षट्कारक। भिन्नकारकका दृष्टान्त यह है कि जैसे किसानने अपने भंडारसे बीजोंको लेकर अपने खेतमें धन प्राप्तिके लिये अपने हाथोंसे बोया। यहां किसान कर्ता है, बीज कर्म है, हाथ करण हैं धन सप्रदान है, भंडार अपादान है खेत अधिकरण है। इस तरह यहां छहों कारक भिन्न २ हैं। आत्माकी शुद्ध अवस्थाकी प्राप्तिके लिये अभिन्न कारककी आवश्यक्ता है। निश्चय नयसे हरएक वस्तुके परिणमनमें जो परिणाम पैदा होता है उसमें ही अभिन्न कारक सिद्ध होते हैं। जैसे सुवर्णकी डलीसे एक कुंडल बना। यहां कुंडल रूप परिणामका उपादान कारण सुवर्ण है। अभिन्न छ कारक इस तरह कहे जासक्ते हैं कि सुवर्ण कर्ताने कुंडल कर्मको अपने ही सुवर्णपनेके द्वारा (करण कारक) अपने ही कुंडलभाव रूप शोभाके लिये (सप्रदान) अपने ही सुवर्ण धातुसे (अपादान) अपने ही सुवर्णपनेमें (अधिकरण) पैदा किया। यह अभिन्न षट्कारकका दृष्टान्त है। इसी तरह आत्म ध्यान करनेवाला सम्पूर्ण पर द्रव्योंसे अपना निरूप

हटा लेता है केवल अपने ही आत्माके सन्मुख उपर्युक्त होनेकी चेष्टा करता है। स्वानुभव रूप एकाग्रताके पूर्व आत्माकी भावना-के समयमें यह विचारवान प्राणी अपने ही आपमें षट्कारकका विकल्प इस तरह करता है कि मैं अपनी परिणतिका आप ही कर्त्ता हूं मेरा परिणति जो उत्पन्न हुई है सो ही मेरा कर्म है। अपने ही उपादान कारणसे अपनी परिणति हुई है इससे मैं आप ही अपना करण हूं। मैंने अपनी परिणतिको उत्पन्न करके अपने आपको ही दी है इससे मैं आप ही सम्प्रदान रूप हूं। अपनी परिणति-को मैंने कहीं औरसे नहीं लिया है किंतु अपने आत्मासे ही लिया है इस लिये मैं आप ही अपादान रूप हूं। अपनी परिणतिको मैं अपने आपमें ही धारण करता हूं इसलिये मैं स्वयं अधिकरण रूप हूं। इस तरह अभेद षटकारकका विकल्प करता हुआ ज्ञानी जीव अपने आत्माके स्वरूपकी भावना करता है। इस भावनाको करते करते जब आप आपमें स्थिर हो जाता है तब अभेद षट् कारकका विकल्प भी मिट जाता है। इस निर्विकल्प रूप शुद्ध भावके प्रतापसे यह आत्मा आप ही चार घातिया कर्मोंसे अलग हो अरहंत परमात्मा हो जाता है इसलिये अरहंत महाराजको स्वयंभू कहना ठीक है

इस कथनसे आचार्यने यह भाव भी झलकाया है कि यदि तुम स्वाधीन, सुखी तथा शुद्ध होना चाहते हो तो अपने आप पुरुषार्थ करो। कोई दूसरा तुमको शुद्ध बना नहीं सक्ता है। मुक्तिका देनेवाला कोई नहीं है। तथा मोक्ष या शुद्ध अवस्था मांगनेसे नहीं मिलती है, न भक्ति पूजन करनेसे प्राप्त होती है।

वह तो आपका ही निज स्वभाव है, उसकी प्रगटता अपने ही पुरुषार्थसे होती है। जितने भी सिद्ध हुए हैं, होते हैं व होंगे वे सर्व ही स्वयंभू हैं।

इस कथनसे यह भी बात झलकती है कि यह आत्मा अपने कार्यका आप ही अधिकारी है। यह किसी एक ईश्वर परमात्माके शासनमें नहीं है। वैज्ञानिक रीतिसे यह अपने परिणामोंका आप ही कर्ता और भोक्ता है। जैसे भोजन करनेवाला स्वयं भोजन करता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है व स्वयं ही भोजनका त्याग कर तो त्यागी होजाता है वैसे यह आत्मा स्वयं अपने अशुद्ध भावोंमें परिणमन करता है और उनका स्वयं फल भोगता है। यदि आप ही अशुद्ध परिणति छोड़े और शुद्ध भावोंमें परिणमन करे तो यह शुद्ध भावको भोगता है तथा शुद्धोपयोगके अनुभवसे स्वयं शुद्ध होजाता है।

इस प्रकार सर्वज्ञकी मुख्यतासे प्रथम गाथा और स्वयंभूकी मुख्यतासे दूसरी गाथा इस तरह पहले स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे उपदेश करते हैं कि अरहंत भगवानके द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे नित्यपना होनेपर भी पर्यायार्थिक नयसे अनित्यपना है।

भंगविहीणो य भवो, संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो, ठिदिसंभवणाससमवायो ॥

भङ्गविहीनश्च भवः संभवपरिवर्जितो विनाशो हि।
विद्यते तस्यैव पुनः स्थितिसंभवनाशसमवायः ॥१७॥

सामान्यार्थ–उन सिद्ध शुद्ध परमात्माके नाश रहित स्वरूपकी प्रगटता है तथा जो विभाव भावोंका व अशुद्धताका नाश हो गया है वह फिर उत्पाद रहित है ऐसा नित्य स्वभाव होने पर भी उस परमात्माके उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी एकता पाई जाती है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(भगविहीण) तथा विनाश रहित (भव) उत्पाद अर्थात् श्री सिद्ध भगवानके जीना मरना आदिमें समताभाव है लक्षण जिसका ऐसे परम उपेक्षा रूप शुद्धोपयोगके द्वारा जो केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंका प्रकाश हुआ है वह विनाश रहित है तथा उनके (सम्भव परिवज्जिद) उत्पत्ति रहित (विणास) विनाश है अर्थात् विकार रहित आत्मतत्त्वसे विलक्षण रागादि परिणामोंके अभाव होनेसे फिर उत्पत्ति नहीं हो सकी है इस तरह मिथ्यात्त्व व रागादि द्वारा भ्रमणरूप संसारकी पर्यायका जिसके नाश हो गया है। (हि) निश्चय करके ऐसा नित्यपना सिद्ध भगवानके प्रगट हो जाता है जिससे यह बात जानी जाती है कि द्रव्यार्थिक नयसे सिद्ध भगवान अपने स्वरूपसे कभी छूटने नहीं हैं। ऐसा है (पुण) तौभी (तस्सेव) उन ही सिद्ध भगवानके (ठिदिसम्भवणाससमवाय) ध्रौव्य उत्पाद व्ययका समुदाय (विज्जदि) विद्यमान रहता है। अर्थात् शुद्ध व्यञ्जन पर्यायकी अपेक्षा पर्यायार्थिक नयसे सिद्ध पर्यायका जब उत्पाद हुआ है तब संसार पर्यायका नाश हुआ है तथा केवलज्ञान आदि गुणोंका आधारभूत द्रव्यपना होनेसे ध्रौव्यपना है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि सिद्ध भगवानके द्रव्या

नयसे नित्यपना है तौ भी पर्यायार्थिक नयसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों है।

भावार्थ–आचार्यने इस गाथामें यह सिद्ध किया है कि शुद्धोपयोगके फलसे जो शुद्ध अवस्था होजाती है वह यद्यपि सदा बनी रहती है तथापि द्रव्य लक्षणसे गिर नहीं जाती है। द्रव्यका लक्षण सत् है, सत् है सो उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है तथा द्रव्य गुण पर्यायवान है। यह लक्षण हरएक द्रव्यमें हरसमय पाया जाना चाहिये अन्यथा द्रव्यका अभाव ही होजायगा। अ शुद्ध जीवमें तो हम देखते हैं कि कोई जीव मनुष्य पर्यायके त्यागसे देव पर्यायरूप होजाता है, पर आत्मापनेसे ध्रौव्य है अर्थात् आत्मा दोनों पर्यायोंमें वही है अथवा एक मनुष्य बालव यके नाशसे युवावयका उत्पाद करता है परन्तु मनुष्य अपेक्षा वही है, ध्रौव्य है। इसी तरह पुद्गल भी झलकता है। लकड़ीकी पर्या यसे जब चौकीकी पर्याय बनती है तब लकड़ीका व्यय, चौकीका उत्पाद तथा जितने पुद्गलके परमाणु लकड़ीमें हैं उनका ध्रौव्यपना है। यदि यह बात न माने तो किसी भी वस्तुसे कोई काम नहीं हो सक्ता। वस्तुका वस्तुत्व ही इस त्रिलक्षणमई सत् लक्षणसे रहता है। यदि मट्टी, पानी, वायु, अग्नि कूटस्थ जैसेके तैसे बने रहते तो इनसे वृक्ष, मकान, वर्तन, खिलौने, कपड़े आदि कोई भी नहीं बन सके। जिस समय मिट्टीका घड़ा बनता है उसी समय घड़ेकी अवस्थाका उत्पाद है घड़ेकी, बननेवाली पूर्व अवस्थाका व्यय है तथा जितने परमाणु घडेकी पूर्व पर्यायमें थे उतने ही परमाणु घड़ेकी वर्तमान पर्यायमें हैं। यदि कुछ झड़ गए होंगे तो

कुछ मिल भी गए होंगे। यही ध्रौव्यपना है। यह लोक कोई विशेष वस्तु नहीं है किन्तु सत्ता रूप सर्व द्रव्योंके समुदायको लोक कहते हैं। जितने द्रव्य लोकमें हैं वे सदासे हैं सदा रहेंगे क्योंकि वे सब ही द्रव्य द्रव्य और अपने सहभावी गुणोंकी अपेक्षा अविनाशी नित्य हैं परन्तु अवस्थाएं समय २ होती हैं वे अनित्य हैं क्योंकि पिछली अवस्था बिगड़कर अगली अवस्था होती है। इसी लिये द्रव्यका लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है। द्रव्य का दूसरा लक्षण गुण पर्यायवान कहा है सो भी द्रव्यमें सदा पाया जाता है। एक द्रव्य अनंत गुणोंका समुदाय है। ये गुण उस समुदायी द्रव्यमें सदा साथ साथ रहते हैं इस लिये गुणोंकी ही नित्यता या ध्रौव्यता रहती है। गुणके विकारको पर्याय कहते हैं। हरएक गुण परिणमनशील है–इसलिये हरएक समयमें पुरानी पर्यायका व्यय और नवीन पर्यायका उत्पाद होता है परन्तु पर्यायोंसे रहित गुण होते नहीं इसलिये द्रव्य गुण पर्यायवान होता है यह लक्षण भी द्रव्यका हर समय द्रव्यमें मिलना चाहिये। यहां एक बात और जाननी योग्य है कि एक द्रव्यमें बन्धन प्राप्त दूसरे द्रव्यके निमित्तसे जो पर्यायें होती हैं वे अशुद्ध या विभाव पर्यायें कहलाती हैं और जो द्रव्यमें विभावकारक द्रव्यका निमित्त न होनेपर पर्यायें होती हैं उनको स्वभाव या सदृश पर्याय कहते हैं। जब जीव पुद्गल कर्मके बन्धनसे गृसित है तब इसके विभाव पर्याय होती है। परन्तु जब जीव शुद्ध हो जाता है तब केवल स्वभाव पर्यायें ही होती हैं। इस गाथामें आचार्यने पहले तो यह बताया है कि जब यह आत्मा शुद्ध हो जाता है तब

सदा शुद्ध बना रहता है, फिर कभी अशुद्ध नहीं होता है। इसी लिये यह कहा कि जब यह आत्मा शुद्धो पयोगके प्रसादसे शुद्ध होता है अथवा जब उसके शुद्धताका उत्पाद होजाता है तब वह विनाश रहित उत्पाद होता है और जो अशुद्धताका नाश होगया है सो फिर उत्पाद रहित नाश हुआ है। इस तरह सिद्ध भगवान नित्य अविनाशी हैं तथापि उनमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप लक्षण घटता है। इसको वृत्तिकारने इस तरह बताया है कि जिस समय सिद्ध पर्यायका उत्पाद हुआ उसी समय संसार पर्यायका नाश हुआ और जीव द्रव्य सदा ही ध्रौव्य रूप है। इस तरह सिद्ध पर्यायके जन्म समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों सिद्ध होते हैं। इसके सिवाय सिद्ध व्यवस्थाके रहते हुए भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य पना सिद्धोंके बाधा रहित है। क्योंकि अल्पज्ञानियोंको विभाव पर्यायका ही अनुभव है स्वभाव पर्यायका अनुभव नहीं है इसलिये शुद्ध जीवादि द्रव्योंमें जो स्वभाव पर्यायें होती हैं उनका बोध कठिन मालूम होता है। आगममें अगुरु लघु गुणके विकारको अर्थात् षट् गुणी हानि वृद्धिरूप परिणमनको स्वभाव पर्याय बतलाया है। इसका भाव यह समझमें आता है कि अगुरुलघु गुणमें जो द्रव्यमें सर्वांग व्यापक है समुद्रजलकी कल्लोलवत् तरगें उठती हैं जिससे कहीं वृद्धि व कहीं हानि होती है परन्तु अगुरुलघु बना रहता है। जैसे समुद्रमें तरगें उठने पर भी समुद्रका जल ज्योंका त्यों बना रहता है केवल कहीं उठा कहीं बैठा हो जाता है इसी तरह अगुरुलघु गुणके अशोंमें वृद्धि हानि होती है क्योंकि हरएक गुण द्रव्यमें सर्वांग व्यापक है इस

लिये अगुरुलघु गुणके परिणमनसे सर्व ही गुणोंमें परिणमन हो जाता है। इस तरह शुद्ध द्रव्यमें स्वभाव पर्यायें समझमें आती हैं। इस स्वभाव पर्यायका विशेष कथन कहीं देखनेमें नहीं आया। आलाप पद्धतिमें अगुरुलघु गुणके विकारको स्वभाव पर्याय कहा है और समुद्रमें जल कल्लोलका दृष्टांत दिया है इसीको हमने ऊपर स्पष्ट किया है। यदि इसमें कुछ त्रुटि हो व विशेष हो तो विद्वज्जन प्रगट करेंगे व निर्णय करके शुद्ध करेंगे।

द्रव्यमें पर्यायोंका होना जब द्रव्यका स्वभाव है तब शुद्ध या अशुद्ध दोनों ही अवस्थाओंमें पर्यायें रहनी ही चाहिये। यदि शुद्ध अवस्थामें परिणमन न माने तब अशुद्ध अवस्थामें भी नहीं मान सक्ते हैं। पर जब कि अशुद्ध अवस्थामें परिणमन होता है तब शुद्ध अवस्थामें भी होना चाहिये, इसी अनुमानसे सिद्धोंमें भी सदा पर्यायोंका उत्पाद व्यय मानना चाहिये। परिणमन स्वभाव होने ही से सिद्धोंका ज्ञान समय समय परम शुद्ध स्वात्मानन्दका भोग करता है। शुद्ध सिद्ध भगवानमें कोई कर्म बंध नहीं रहा है इसीसे वहां विभाव परिणाम नहीं होते, केवल शुद्ध परिणाम ही होते हैं। परिणाम समय २ अन्य अन्य हैं इसीसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना तथा गुण पर्यायवानपना सिद्धोंके सिद्ध है। इस कथनसे आचार्यने यह भी बताया है कि मुक्त अवस्थामें आत्माकी सत्ता जैसे संसार अवस्थामें रहती है वैसे बनी रहती है। सिद्ध जीव सदा ही अपने स्वभावमें व सत्तामें रहते हैं न किसीमें मिलते हैं न सत्ताको खो बैठते हैं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जैसे सुवर्ण आदि मूर्तीक

द्वारा कोई फल फूल वनस्पति नहीं हो सक्ती और न वनस्पतिसे जलानेकी लकड़ी, द्वारके कपाट, चौकी, कुरसी, पलंग आदि बन सके। यह जगत परिणमनशील पदार्थसमूहके कारण ही नाना विचित्र दृश्योंको दिखला रहा है। मूलमें देखें तो इस लोकमें केवल छः द्रव्य हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। इनमें चार तो सदा उदासीन रूपसे निष्क्रिय रहते हैं कुछ भी हलन चलन करके काम नहीं करते और न प्रेरणा करते हैं। किन्तु जीव और पुद्गल क्रियावान हैं। दो ही द्रव्य इस संसारमें चलते फिरते हैं तथा परस्पर संयोगसे अनेक संयुक्त अवस्थाओंको भी दिखाते हैं। इनकी क्रियाएं व इसके कार्य प्रगट हैं। इनहीसे यह भारी तीनलोक बनता बिगड़ता रहता है। संसारी जीव पुद्गलोंको लेकर उनकी अनेक प्रकार रचना बननेमें कारण होते हैं। तथा पुद्गल संसारी जीवोंके निमित्तसे अथवा अन्य पुद्गलोंके निमित्तसे अनेक प्रकार अवस्थाओंको पैदा करते हैं। संसारी आत्मा जोकि द्रव्य कर्मोंका बंध स्वयं ही कार्माण वर्गणाओंके कर्म रूप परिणमनसे होता है यद्यपि इस परिणमनमें संसारी आत्माके योग और उपयोग कारण हैं। जगतमें कुछ काम आत्माके योग उपयोगकी प्रेरणासे होते हैं जैसे मकान, आभूषण, वर्तन, पुस्तक, वस्त्र आदिका बनाना। कुछ काम ऐसे हैं जिनको पुद्गल परस्पर निमित्त बन किया करते हैं जैसे पानीका भाप बनना, भापका मेघरूप होना, मेघोंका गजरना, बिजलीका चमकना, नदीमें बाढ़ आना, गावोंका बह जाना, मिट्टीका जमना, पर्वतोंका टूटना, बर्फका गलना आदि। यदि परिणमनशक्ति द्रव्यमें न हो तो कोई काम नहीं होसक्ते। जब

प्रत्यक्ष दिखने योग्य कार्योंमें परिणमनशक्ति काम करती मालूम पड़ती है तब, अति सूक्ष्म शुद्ध द्रव्योंमें परिणमनशक्ति न रहे तथा वे परिणमन न करें, यह बात असमव है। इसीसे सिद्धोंमें भी पर्यायका उत्पाद और विनाश मानना होगा। वृत्तिकारने तीन तरह उत्पाद व्यय बताया है। एक तो अगुरुलघु गुणके द्वारा, दूसरा परकी अपेक्षासे जैसे ज्ञानमें जैसे ज्ञेय परिणमन करके झलकते हैं वैसे ज्ञानमें परिणमन होना है, तीसरे सिद्ध अवस्थाका उत्पाद एवं पर्यायका व्यय और आत्म द्रव्यका ध्रौव्यपना। इनमें स्वाश्रित स्वभाव पर्यायोंका होना अगुरुलघु गुणके द्वारा कहना वास्तविक स्व अपेक्षारूप है और ऐसा परिणमन शुद्ध आत्म द्रव्यमें सदा रहता है। यहां गाथामें पर्यायकी अपेक्षासे ही उत्पाद तथा व्यय कहा है तथा ध्रौव्यपना कहनेमें उत्पाद व्यय अलग रह जाते हैं इससे किसी प्रत्यभिज्ञानके गोचर स्वभाव रूप पर्यायके द्वारा ही ध्रौव्यपना है। द्रव्यार्थिक नयसे इन तीन रूप सत्ताको रखने वाला द्रव्य है। यदि पर्यायोंका पलटना सिद्धोंमें न मानें तो समय समय अनंत सुखका उपभोग सिद्धोंके नहीं हो सकेगा। इस तरह सिद्ध जीवमें द्रव्यार्थिक नयसे नित्यपना होनेपर भी पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपनेको कहते हुए दूसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो पूर्वमें कहे हुए सर्वज्ञको मानते हैं वे ही सम्यग्दृष्टी होते हैं और वे ही परम्परा मोक्षको प्राप्त करते हैं—

त सव्वत्थवरिट्ठं, इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं ।
ये सद्दहंति जीवा, तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥ १ ॥

तं सर्वार्थवरिष्ठं इष्टं अमरासुरप्रधानैः
ये श्रद्दधति जीवा तेषां दुःखानि क्षीयन्ते ॥ १ ॥

सामान्यार्थ–जो जीव देवोंके इन्द्रोंसे पूज्यनीक ऐसे सब पदार्थोंमें श्रेष्ठ परमात्माका श्रद्धान रखते हैं उनके दुःख नाश हो जाते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(ये जीवा) जो भव्यजीव (अमरासुरप्पहाणेहिं) स्वर्गवासी देव तथा भवनत्रिकके इन्द्रोंसे (इट्ठं) माननीय (तं सव्वत्थवरिट्ठं) उस सर्व पदार्थोंमें श्रेष्ठ परमात्माको सद्दहंति) श्रद्धान करते हैं (तेसिं) उनके (दुक्खाणि) सब दुःख (खीयंति) नाशको प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ–इस गाथाकी टीका श्री अमृतचन्द्र आचार्यने नहीं की है परन्तु श्री जयसेनाचार्यने की है। इस गाथाका भाव यह है–शुद्धोपयोगमई साम्यभावका आश्रय करके जिन भव्यजीवोंने सर्वज्ञ पद या सिद्ध पद प्राप्त किया है वे ही हमारे उपासकोंके लिये पूज्यनीय उदाहरण रूप आदर्श हैं। जिस पूर्ण वीतरागता, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण वीर्य तथा पूर्ण सुखका लाभ हरएक आत्मा चाहता है उसका लाभ जिसने कर लिया है वह आत्मा तथा जिस उपायसे ऐसा लाभ किया है वह मार्ग दोनों ही धर्मेच्छु जीवके लिये आदर्श रूप हैं–शुद्धोपयोग मार्ग है और शुद्ध आत्मस्वरूप उस मार्गका फल है इन दोनोंका यथार्थ श्रद्धान और ज्ञान होना

ही शुद्धोपयोग और उसके फलरूप सर्वज्ञ पदकी प्राप्तिका उपाय है। इसी लिये सुखके इच्छुक पुरुषको उचित है कि अरहंत सिद्ध परमात्माके स्वरूपका श्रद्धान अच्छी तरह रक्खे और उनकी पूजा भक्ति करे, उनका ध्यान करे तथा उनके समान होनेकी भावना करे। प्रमत्त गुणस्थानोंमें पूज्य पूजक ध्येय ध्याताका विकल्प नहीं मिटता है इसलिये छठे गुणस्थानतक भक्तिका प्रवाह चलता है। यद्यपि सच्चे श्रद्धान सहित यह भक्ति शुभोपयोग है तथापि शुद्धोपयोगके लिये कारण है। क्योंकि सर्वज्ञ भगवानकी व उनकी भक्तिकी श्रद्धामें विपरीताभिनिवेशका अभाव है अर्थात् सर्वज्ञ व उनकी भक्तिका श्रद्धा इसी भावपर आलम्बन रखती है कि शुद्धोपयोग प्राप्त करना चाहिये। शुद्धोपयोग ही उपादेय है। क्योंकि यही वर्तमानमें भी अतीन्द्रिय आनन्दका कारक है तथा भविष्यमें भी सिद्ध स्वभावको प्रगट करनेवाला है। इसलिये हरएक धर्मधारीको रागी द्वेषी मोही सर्व आप्तों या देवोंको त्यागकर एक मात्र सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी अरहंतमें तथा परम निरंजन शुद्ध परमात्मा सिद्ध भगवानमें ही श्रद्धा रखकर हरएक मंगलीक कार्यमें इनका पूजन भजन करना चाहिये।

इस तरह निर्दोष परमात्माके श्रद्धानसे मोक्ष होती है ऐसा कहते हुए तीसरे स्थलमें गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका-आगे शिष्यने प्रश्न किया कि हम आत्माके विकार रहित स्वसंवेदन लक्षणरूप शुद्धोपयोगके प्रभावसे सर्वज्ञपना प्राप्त हो अतीन्द्रियके द्वारा उपयोग तथा भोगके

किस तरह ज्ञान और आनन्द होसके हैं इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

पक्खीणघादिकम्मो, अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो।
जादो अदिंदिओ सो, णाणं सोक्खं च परिणमदि॥२०

प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजाः ।
जातोऽतीन्द्रियः स ज्ञानं सौख्यं च परिणमति ॥ २० ॥

सामान्यार्थ-यह आत्मा घातिया कर्मोंको नाशकर अनंत वीर्यकाधारी होता हुआ व अतिशय ज्ञान और दर्शनके तेजको रखता हुआ अतींद्रिय होकर ज्ञान और सुखरूप परिणमन करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सः) वह सर्वज्ञ आत्मा जिसका लक्षण पहले कहा है (पक्खीणघादिकम्म) घातिया कर्मोंको क्षयकर अर्थात् अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख अनंतवीर्य इन चतुष्टयरूप परमात्मा द्रव्यकी भावनाके लक्षणको रखनेवाले शुद्धोपयोगके बलसे ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंको नाशकर (अणंतवरवीर्य) अंत रहित और उत्कृष्ट वीर्यको रखता हुआ (अधिकतेज) व अतिशय तेजको धारता हुआ अर्थात् केवलज्ञान केवलदर्शनको प्राप्त हुआ (अर्णिदिय) अतींद्रिय अर्थात् इंद्रियोंके विषयोंके व्यापारसे रहित (जादो) होगया (च) तथा ऐसा होकर (णाण) केवलज्ञानको (सोक्ख) और अनंत सुखको (परिणमदि) परिणमन करता है। इस व्याख्यानसे यह कहा गया कि आत्मा यद्यपि निश्चयसे अनंतज्ञान और अनंत सुखके स्वभावको रखने-वाली भी व्यवहारसे संसारकी अवस्थामें पड़ा हुआ जबतक

अनंतकालतक रहता है। क्योंकि यह ज्ञान आत्माका स्वभाव है। इसी तरह अनंत अतीन्द्रिय निर्मल सुख भी आत्माका स्वभाव है। इसको चारों ही घातिया कर्मोंने रोक रक्खा है। इन कर्मोंके उदयके कारण प्रत्यक्ष निर्मल सुखका अनुभव नहीं होता है। इन चार कर्मोंमेंसे सबसे प्रबल मोहनीय कर्म है। उसमें भी मिथ्यात्व प्रकृति और अनंतानुबंधी कषाय सबसे प्रबल हैं। जब तक इनका उपशम या क्षय नहीं होता है तबतक सुख गुणका विपरीत परिणमन होता है अर्थात् इंद्रिय द्वारा सुख होता है ऐसा समझता है, पराधीन कल्पित सुखको सुख मानता है और निरंतर ज्यों २ इस इंद्रिय जनित सुखका भोग करता है त्यों २ अधिक २ तृष्णाकी वृद्धि करता है उस तृष्णासे आतुर होकर जैसे मृग वनमें भ्रमसे बालूको पानी समझ पीनेको दौड़ता है और अपनी प्यास बुझानेकी अपेक्षा अधिक कष्ट पाता है तैसे अज्ञानी मोही जीव भ्रमसे इन्द्रिय सुखको सुख मानकर बार बार इन्द्रियके पदार्थोंके भोगमें प्रवर्तता है और अधिक २ इन्द्रिय चाहकी दाहमें जलकर दुःखी होता है। परन्तु जिस किसी आत्माको दर्शनमोह और अनन्तानुबंधी कषायका उपशम, क्षयोपशम या क्षय होकर सम्यक्त पैदा हो जाता है उसी आत्माको सम्यक्तके होते ही आत्माका अनुभव अर्थात् स्वाद आता है तब ही सच्चे सुखका परोक्ष अनुभव होता है, यद्यपि यह अनुभव प्रत्यक्ष केवलज्ञानकी सदृशता न होनेसे परोक्ष है तथापि इन्द्रिय और मनका व्यापार बन्द होनेसे तथा आत्माकी सन्मुखता आत्माकी तरफ रहनेसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है। सम्यक्त

होते ही सच्चे सुखका स्वाद आने लगता है। फिर जितना जितना ज्ञान बढ़ता जाता है तथा कषाय मंद होता जाता है उतना उतना अधिक निर्मल और अधिक कालतक सच्चे सुखका स्वाद आता है। केवलज्ञान होनेपर पूर्ण शुद्ध प्रत्यक्ष और अनंत सच्चे सुखका लाभ हो जाता है क्योंकि यह स्वाभाविक अनीन्द्रिय सुख है, जो कर्मोंके आवरणसे ढका था अब आवरण मिट गया इससे पूर्णपने प्रगट हो गया। अंतरायके अभावसे अनंत बल आत्मामें पैदा हो जाता है इसी कारण अनंतज्ञान व अनंत सुख सदाकाल अपनी पूर्ण शक्तिको लिये हुए विराजमान रहते हैं। इस तरह आचार्यने शिष्यकी शंका निवारण करते हुए बता दिया कि जिस इन्द्रियजनित ज्ञान व सुखसे संसारी रागी जीव अपनेको ज्ञानी और सुखी मान रहे हैं वह ज्ञान व सुख न वास्तविक निर्मल स्पष्ट ज्ञान है न सच्चा सुख है। सच्चा स्वाभाविक स्पष्ट ज्ञान और सुख तो अर्हत और सिद्ध परमात्माको ही होता है जिसकी उत्पत्तिका कारण शुद्धोपयोग या साम्यभाव है जिसके आश्रय करनेकी सूचना आचार्यने पहले ही की थी इसलिये सर्व रागद्वेष मोहसे उपयोग हटाकर शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी चाहिये कि मेरा स्वभाव निश्चयसे अनंतज्ञानादि चतुष्टय रूप है ऐसा तात्पर्य है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अतींद्रियपना होनेसे ही केवलज्ञानीके शरीरके आधारसे उत्पन्न होनेवाला भोजनादिका सुख तथा क्षुधा आदि नहीं होता है।

सोक्खं वा पुण दुक्खं, केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अदिंदियत्तं, जादं तम्हा दु तं णेयं ॥ २० ॥

सौख्यं वा पुनर्दुःखं केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम्।
यस्मादतीन्द्रियत्वं जातं तस्मात्तु तज्ज्ञेयम् ॥ २० ॥

सामान्यार्थ–केवलज्ञानीके शरीर सम्बन्धी सुख तथा दुःख नहीं होते हैं क्योंकि उनके अतीन्द्रियपना प्रगट होगया है इसलिये उनके तो अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय सुखही जानने चाहिये।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(पुण) तथा (केवलणाणिस्स) केवलज्ञान के (देहगदं) देहसे होनेवाला अर्थात् शरीरके आधारमें रहनेवाली जिह्वा इन्द्रिय आदिके द्वारा पैदा होनेवाला (सोक्खं) सुख (वा दुक्खं) और दुःख अर्थात् असाता वेदनीय आदिके उदयसे पैदा होनेवाला क्षुधा आदिका दुःख (णत्थि) नहीं होता है। (जम्हा) क्योंकि (अदिंदियत्तं) अतीन्द्रियपना अर्थात् मोहनीय आदि घातिया कर्मोंके अभाव होनेपर पांचों इन्द्रियोंके विषय सुखके लिये व्यापारका अभावपना ऐसा अतीन्द्रियपना (जादं) प्रगट होगया है (तम्हा) इसलिये (तं दु) वह अर्थात् अतीन्द्रियपना होनेके कारणसे अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख तो (णेयं) जानना चाहिये। भाव यह है कि जैसे लोहेके पिंडकी संगतिको न पाकर अग्नि हथोड़ेकी चोट नहीं सहती है वैसे यह आत्मा भी लोहपिंडके समान इन्द्रिय ग्रामोंका अभाव होनेसे अर्थात् इन्द्रियजनित ज्ञानके बन्द होनेसे सांसारिक सुख तथा दुःखको अनुभव नहीं करता है।

यहां किसीने कहा कि केवलज्ञानीके भोजन है क्योंकि औदारिक शरीरकी सत्ता है तथा असाता वेदनीय कर्मके उदयका सद्भाव है, जैसे हमलोगोंके भोजन होता है इसका खंडन करते हैं कि श्री केवली भगवानके औदारिक शरीर नहीं है किन्तु परम औदारिक है जैसा कहा है—

शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजो मूर्तिमयं वपुः ।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातु विवर्जितम् ॥

अर्थात् दोष रहित केवलज्ञानीके शुद्ध स्फटिक मणिके समान परमतेजस्वी तथा सात धातुसे रहित शरीर होता है। और जो यह कहा है कि असाता वेदनीयके उदयके सद्भावसे केवलीके भूख लगती है और वे भोजन करते हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे धान्य जौ आदिका बीज जल सहकारी कारण सहित होनेपर ही अंकुर आदि कार्यको उत्पन्न करता है तैसे ही असाता वेदनीय कर्म मोहनीय कर्मरूप सहकारी कारणके साथ ही क्षुधा आदि कार्यको उत्पन्न करता है क्योंकि कहा है "मोहस्सबलेण घाददे जीव" कि वेदनीय कर्म मोहके बलको पाकर जीवको घात करता है। यदि मोहनीय कर्मके अभाव होने पर भी असाता वेदनीय कर्म क्षुधा आदि परिषहको उत्पन्न करदे तो वध रोग आदि परीषह भी उत्पन्न हो जावें सो ऐसा होता नहीं है क्योंकि कहा है "भुक्त्युपसर्गाभावात्" कि केवलीके भोजन व उपसर्ग नहीं होते। और भी दोष यह आता है कि यदि केवलीको क्षुधाकी बाधा है तब क्षुधाके कारण शक्ति

क्षीण होनेसे अनन्तवीर्य्य नहीं बनेगा वैसे ही क्षुधा करके जो दुःखी होगा उसके अनन्त सुख भी नहीं हो सकेगा तथा रसना इन्द्रिय द्वारा ज्ञानमें परिणमन करते हुए मतिज्ञानीके केवलज्ञानका होना भी सम्भव न होगा। अथवा और भी हेतु है। असाता वेदनीयके उदयकी अपेक्षा केवलीके साता वेदनीयका उदय अनन्त गुणा है। इस कारणसे जैसे शक्करके ढेरमें नीमका कण अपना असर नहीं दिखलाता है वैसे अनन्तगुण साता वेदनीयके उदयमें असातावेदनीयका असर नहीं प्रगट होता। वैसे ही और भी बाधक हेतु है। जैसे प्रमत्तसंयमी आदि साधुओंके वेदका उदय रहते हुए भी मन्द मोहके उदयसे अखंड ब्रह्मचारियोंके स्त्री परीषहकी बाधा नहीं होती है तथा नव ग्रैवेयक आदिके अहमिन्द्रोंके वेदका उदय होते हुए भी मन्द मोहके उदयसे स्त्री सेवन सम्बन्धी बाधा नहीं होती है वैसे ही श्री केवली अरहतके असाता वेदनीयका उदय होते हुए भी सम्पूर्ण मोहका अभाव होनेसे क्षुधाकी बाधा नहीं होसक्ती है। यदि ऐसा आप कहें कि मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोग केवली पर्यंत तेरह गुणस्थानवर्ती जीव आहारक होते हैं ऐसा आहारक मार्गणाके सम्बन्धमें आगममें कहा हुआ है इस कारणसे केवलियोंके आहार है ऐसा मानना चाहिये सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस गाथाके अनुसार आहार छः प्रकारका होता है।

"णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥१०॥

भाव यह है कि आहार छः प्रकारका होता है जैसे नो कर्मका आहार, कर्मोंका आहार, ग्रासरूप कवलाहार, लेपका आहार, ओज आहार, तथा मानसिक आहार। आहार उन परमाणुओंके ग्रहणको कहते हैं जिनसे शरीरकी स्थिति रहे। आहारक वर्गणाका शरीरमें प्रवेश सो नोकर्मका आहार है। जिन परमाणुओंके समूहसे देवोंका, नारकियोंका, मनुष्य या तिर्यंचोंका वैक्रियिक, औदारिक शरीर और मुनियोंके आहारक शरीर बनता है उसको आहारक वर्गणा कहते हैं। कार्माण वर्गणाके ग्रहणको कर्म आहार कहते है। इन्हीं वर्गणाओंसे कर्मोंका सूक्ष्म शरीर बनता है। अन्नपानी आदि पदार्थोंको मुखद्वारा चबाकर व मुख चलाकर खाना पीना सो कवलाहार है। यह साधारण मनुष्योंके व द्वेन्द्रियसे ले पचेन्द्रिय तकके पशुओंके होता है। स्पर्शसे शरीर पुष्टिकारक पदार्थोंको ग्रहण करना सो लेप आहार है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति कायधारी एकेन्द्रिय जीवोंके होता है। अंडोंको माता सेती है उससे जो गर्मी पहुचाकर अडोंको बड़ा करती है सो ओज आहार है। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी इन चार प्रकारके देवोंमें मानसिक आहार होता है। इनके वैक्रियिक सूक्ष्म शरीर होता है जिसमें हाड़ मांस रुधिर नहीं होता है इसलिये इनके कवलाहार नहीं है यह मांस व अन्न नहीं खाते हैं। देवोंके जब कभी भूखकी बाधा होती है उनके कंठमेंसे ही अमृतमई रस झड़जाता है उसीसे ही उनकी भूखकी बाधा मिट जाती है। नारकियोंके कर्मोंका भोगना यही आहार है तथा वे नरककी पृथ्वी-

की मिट्टी खाते हैं परन्तु उससे उनकी भूख मिटती नहीं है। इन छः प्रकारके आहारोंमेंसे केवली अरहंत भगवानके मात्र नोकर्मका आहार है इसी ही अपेक्षासे केवली अरहंतोंके आहारकपना जानना चाहिये, कवलाहारकी अपेक्षासे नहीं। सूक्ष्म इंद्रियोंके अगोचर, रसवाले सुगन्धित अन्य मनुष्योंके लिये असंभव, कवलाहारके विना भी कुछ कम एक कोड़ पूर्व तक शरीरकी स्थितिके कारण, सात धातुओंसे रहित परमौदारिक शरीर रूप नोकर्मके आहारके योग्य आहारक वर्गणाओंसे पुद्गल लाभांतराय कर्मके पूर्ण क्षय होजानेसे केवली महाराजके शरीरमें योग शक्तिके आकर्षणसे प्रति समय समय आते हैं। यही केवलीके आहार है यह बात नवकेवललब्धिके व्याख्यानके अवसर पर कही गई है इस लिये यह जाना जाता है कि केवली अरहंतोंके नोकर्मके आहारकी अपेक्षासे ही आहारकपना है। यदि आप कहो कि आहारकपना अनाहारकपना नोकर्मके आहारकी अपेक्षा कहना तथा कवलाहारकी अपेक्षा न कहना यह आपकी कल्पना है यदि सिद्धांतमें है तो कैसे मालूम पड़े तो इसका समाधान यह है कि श्री उमास्वामी महाराजकृत तत्वार्थसूत्रके दूसरे अ० में यह वाक्य है "एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः" इ० ॥

इस सूत्रका भावरूप अर्थ कहा जाता है। एक शरीरको छोड़कर दूसरे भवमें जानेके कालमें विग्रह गतिके भीतर स्थूल शरीरका अभाव होते हुए नवीन स्थूल शरीर धारण करनेके लिये तीन शरीर और छः पर्याप्तिके योग्य पुद्गल पिंडका ग्रहण होना नोकर्म आहार कहा जाता है। ऐसा नोकर्म

आहार विग्रह गतिके भीतर कर्मोका ग्रहण या कार्माण वर्गणाका आहार होते हुए भी एक, दो या तीन समय तक नहीं होता है । इसलिये ऐसा जाना जाता है कि आगममें नोकर्म आहारकी अपेक्षासे आहारक अनाहारकपना कहा है । यदि कहोगे कि कवलाहारकी अपेक्षासे है तो ग्रासरूप भोजनके कालको छोडकर सदा ही अनाहारकपना ही रहेगा । तब तीन समय अनाहारक है ऐसा नियम न रहेगा । यदि कहोगे कि वर्तमानके मनुष्योंकी तरह केवलियोंके कवलाहार है क्योंकि केवली भी मनुष्य हैं सो कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानोगे तो वर्तमानके मनुष्योंकी तरह पूर्वकालके पुरुषोंके सर्वज्ञपना न रहेगा तथा राम रावण आदिकी विशेष सामर्थ्य थी सो बात नहीं रहेगी सो यह बात नहीं बन सकी । और भी समझना चाहिये कि अल्पज्ञानी छद्मस्थ प्रमत्तसयतनामा छठे गुणस्थानधारी साधु भी जिनके सात धातु रहित परम औदारिक शरीर नहीं है इस वचनसे कि " छट्ठोत्ति पढम सण्णा " प्रथम आहारकी संज्ञा अर्थात् भोजन करनेकी चाह छठे गुणस्थान तक ही है यद्यपि वे आहारको लेते हैं तथापि ज्ञान और संयम तथा ध्यानकी सिद्धिके अर्थ लेते हैं देहके मोहके लिये नहीं लेते हैं । कहा भी है—

> कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते,
> ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखं ॥ १ ॥
> ण बलाउ साहणट्ठ ण सरीरस्स य चयट्ठ तेजट्ठ ।
> णाणट्ठ संजमट्ठ झाणट्ठ चेव भुंजंति ॥ २ ॥

भाव यह है कि मुनियोंके आहार शरीरकी स्थितिके लिये होता है, शरीरको ज्ञानके लिये रखते हैं, आत्मज्ञान कर्म नाशके लिये सेवन करते हैं क्योंकि कर्मोंके नाशसे परम सुख होता है। मुनि शरीरके बल, आयु, चेष्टा तथा तेजके लिये भोजन नहीं करते हैं किन्तु ज्ञान, सयम तथा ध्यानके लिये करते हैं।

उन भगवान केवलीके तो ज्ञान, सयम तथा ध्यान आदि गुण स्वभावसे ही पाए जाते हैं आहारके बलसे नहीं। उनको सयमादिके लिये आहारकी आवश्यक्ता तो है नहीं क्योंकि कर्मोंके आवरणके न होनेसे सयमादि गुण तो प्रगट हो रहे हैं फिर यदि कहो कि देहके ममत्वसे आहार करते हैं तो वे केवली छद्मस्थ मुनियोंसे भी हीन होजायगे।

यदि कहोगे कि उनके अतिशयकी विशेषतासे प्रगटरूपसे भोजनकी भुक्ति नहीं है गुप्त है तो परमौदारिक शरीर होनेसे भुक्ति ही नहीं है ऐसा अतिशय क्यों नहीं होता है। क्योंकि गुप्त भोजनमें मायाचारका स्थान होता है, दीनता की वृत्ति आती है तथा दूसरे भी पिंड शुद्धिमें कहे हुए बहुतसे दोष होते हैं जिनको दूसरे ग्रथसे व तर्कशास्त्रसे जानना चाहिये। अध्यात्म ग्रथ होनेसे यहा अधिक नहीं कहा है।

यहा यह भावार्थ है कि ऐसा ही वस्तुका स्वरूप जानना चाहिये। इसमें हठ नहीं करना चाहिये। खोटा आग्रह या हठ करनेसे रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है जिससे निर्विकार चिदानदमई एक स्वभावरूप परमात्माकी भावनाका घात होता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि अरहतोंके मतिज्ञानादि चार ज्ञानका अभाव होनेसे तथा केवलज्ञानका प्रकाश होनेसे उपयोगकी प्राप्ति निज आत्मामई है। उपयोग पाच इद्रिय तथा मनके द्वारा परिणमन नहीं करता है। परोक्षज्ञानका अभाव होगया है। प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट होगया है। इसलिये छद्मस्थ अल्प ज्ञानियोंके जो इद्रियोंके द्वारा पदार्थ ग्रहण होता था व मनमें सकल्प विकल्प होते थे सो सब मिट गए हैं। इसलिये इद्रियोंके द्वारा पदार्थ भोग नहीं है न इन्द्रियोंकी बाधा है न उनके विषयकी चाहका दु ख है न इद्रियोंके द्वारा सुख है। क्योंकि देहके मम-त्वसे सवथा रहित होनेसे अरहतोंकी सन्मुखता ही उस ओर नहीं है इसलिये शरीर सम्बन्धी दु ख या सुख केवलीके अनुभवमें नहीं आता है। केवली मन्द सुगन्ध पवन व समवशरणादि लक्ष्मी आदि किसी भी पदार्थका भोग नहीं करते इसलिये इन पदार्थोंके द्वारा केवलज्ञानीको कोई सुख नहीं है न शरीरकी दशाकी अपेक्षासे कभी कोई दु ख होसक्ता है, न उनको भूख प्यासकी बाधा होती, न रोगकी आकुलता होती, न कोई थकन होती, न खेद होता-देह सम्बन्धी सुख दु खका वेदन केवलीके नहीं है इसलिये कभी क्षुधाके भावका विकार नहीं पैदा होता है न मैं निर्बल हू यह भाव होता है। उनका भाव सदा सन्तोषी परमा-नद मई स्वात्माभिमुखी होता है। केवली भगवानका शरीर दीर्घकालतक विना ग्रासरूप भोजन किये भी पुष्ट रहता है क्योंकि उनके लेप आहारकी तरह नोकर्म आहार है जिससे पौष्टिक वर्ग-णाए शरीरमें मिलती रहती हैं। केवलीका शरीर कभी निर्बल नहीं

होसक्ता वहां लाभांतरायका सर्वथा क्षय है तथा सातावेदनीयका परम उदय है। श्वेताम्बर आम्नायमें जो केवलीके क्षुधाकी बाधा बताकर भोजन करना बताया है उसका वृत्तिकारने बहुत अच्छी तरह समाधान कर दिया है। केवलज्ञानीके अतीन्द्रिय स्वाभाविक ज्ञान तथा अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनन्द रहता है, कर्मोदयकी प्रधानता मिटकर स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है, तात्पर्य यह है कि परमज्ञान स्वरूप तथा परमानन्दमई केवलीकी अवस्थाको उपादेय मानकर उसकी प्राप्तिके लिये शुद्धोपयोगकी भावना करनी योग्य है।

इस तरह अनन्तज्ञान और सुखकी स्थापना करते हुए प्रथम गाथा तथा केवलीके भोजनका निराकरण करते हुए दूसरी गाथा इस तरह दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

इति सात गाथाओंके द्वारा चार स्थलोंसे सामान्यसे सर्वज्ञ सिद्धि नामका दूसरा अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

उत्थानिका सूची सहित–आगे ज्ञान प्रपंच नामके अंतर अधिकारमें ३३ तेतीस गाथाएं हैं उनमें आठ स्थल हैं जिनमें आदिमें केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहते हुए **'परिणमदो खलु'** इत्यादि गाथाएं दो हैं फिर आत्मा और ज्ञानके निश्चयसे असंख्यात प्रदेश होनेपर भी व्यवहारसे सर्वव्यापी पना है इत्यादि कथनकी मुख्यतासे **"आदा णाणपमाणं"** इत्यादि गाथाएं पांच हैं। उसके पीछे ज्ञान और ज्ञेय पदार्थोंका एक दूसरेमें गमनके निषेधकी मुख्यतासे "णाणी णाणसहावो" इत्यादि गाथाएं पांच हैं। आगे निश्चय और व्यवहार केवलीके प्रतिपादन आदि

मुख्यता करके " जाणदि सुदेण " इत्यादि सूत्र चार हैं। आगे वर्तमानकालके ज्ञानमें तीनकालकी पर्यायोंके जाननेको कहने आदिकी मुख्यतासे "तक्कालिगेव सव्वे" इत्यादि सूत्र पाच हैं। आगे केवलज्ञान बन्धका कारण नहीं है न रागादि विकल्प रहित छद्मस्थका ज्ञान बन्धका कारण है किन्तु रागादिक बन्धके कारण हैं इत्यादि निरूपणकी मुख्यतासे " परिणमदि णेय " इत्यादि सूत्र पाच हैं। आगे केवलज्ञान सर्वज्ञान है इसीको सर्वज्ञपना करके कहते हैं इत्यादि व्याख्यानकी मुख्यतासे " ज तक्कालिय-मिदर " इत्यादि गाथाएं पाच हैं। आगे ज्ञान प्रपंचको सकोच करनेकी मुख्यतासे पहली गाथा है तथा नमस्कारको कहते हुए दूसरी है। इस तरह " ण वि परिणमदि " इत्यादि गाथाए दो हैं। इस तरह ज्ञान प्रपंच नामके तीसरे अन्तर अधिकारमें तेतीस गाथाओंमे आठ स्थलोंसे समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

आगे कहते हैं कि केवलज्ञानी अतीन्द्रिय ज्ञानमें परिणमन करते हैं इस कारणसे उनको सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं—

परिणमदो खलु णाणं, पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहि किरियाहिं॥२१

परिणममानस्य खलु ज्ञानं प्रत्यक्षाः सर्वद्रव्यपर्यायाः ।
स नैव तान् विजानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः ॥ २२ ॥

सामान्यार्थ—वास्तवमें केवलज्ञानमें परिणमन करनेवाले केवली भगवानके सर्व द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायें प्रत्यक्ष प्रगट हो जाती हैं। वह केवली उन द्रव्यपर्यायोंको अवग्रहपूर्वक

क्रियाओंके द्वारा क्रमसे नहीं जानते हैं किन्तु एक साथ एक समयमें सबको जान लेते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ –(खलु) वास्तवमें (णाण) अनन्त पदार्थोंको जाननेमें समर्थ केवलज्ञानको (परिणमदो) परिणमन करते हुए केवली अरहंत भगवानके (सव्वदव्वपज्जाया) सर्व द्रव्य और उनकी तीनकालवर्ती सर्व पर्यायें (पच्चक्खा) प्रत्यक्ष हो जाती हैं। (स) वह केवली भगवान (ते) उन सर्व द्रव्य पर्यायोंको (ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं) अवग्रह पूर्वक क्रिया ओंके द्वारा (णेव विजाणदि) नहीं जानते हैं किन्तु युगपत् जानते हैं ऐसा अर्थ है। इसका विस्तार यह है कि आदि और अन्त रहित, बिना किसी उपादान कारणके सत्ता रखनेवाले तथा चैतन्य और आनन्दमई स्वभावके धारी अपने शुद्ध आत्माको उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य समझकर केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बीजभूत जिसको आगमकी भाषामें शुक्लध्यान कहते हैं ऐसे रागादि विकल्पोंके जालसे रहित स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा जब यह आत्मा परिणमन करता है तब स्वसंवेदन ज्ञानके फल स्वरूप केवलज्ञानमई ज्ञानाकारमें परिणमन करनेवाले केवली भगवानके उसी ही क्षणमें जब केवलज्ञान पैदा होता है तब क्रम क्रमसे जाननेवाले मतिज्ञानादि क्षयोपशमिक ज्ञानके अभावसे बिना क्रमके एक साथ सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सहित सर्व द्रव्य, गुण और पर्याय प्रत्यक्ष प्रतिभासमान होजाते हैं ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने केवलज्ञानकी महिमा बताई है। अभिप्राय यह है कि सद्ज्ञान आत्माका स्वभाव है।

आत्मा गुणी है ज्ञान गुण है। इनका तादात्म्य सम्बन्ध है जो कभी मिट नहीं सक्ता। ज्ञान उसे कहते हैं जो सर्व ज्ञेयोंको जान सके। जितने द्रव्य हैं उन सबमें प्रमेयत्वनामा साधारण गुण व्यापक है। जिस गुणके निमित्तसे पदार्थ किसी न किसीके ज्ञानका विषय हो वह प्रमेयत्व गुण है। आत्माका निरावरण शुद्ध ज्ञान तब ही पूर्ण और शुद्ध कहा जासक्ता है जब वह सर्व जान नेयोग्य विषयको जान सके। इसी लिये केवली सर्वज्ञ भगवानके सर्व पदार्थ, गुण, पर्याय एक साथ झलकते रहते हैं। जब तक ज्ञान गुणमें ज्ञानावरणीय कर्मका आवरण थोड़ा या बहुत रहता है तबतक ज्ञान सब पदार्थोंको एक साथ नहीं जान सक्ता है। थोड़े थोड़े पदार्थोंको जानकर फिर उनको छोड़ दूसरोंको जानता है ऐसा क्रमवर्ती क्षयोपशमिक ज्ञान है। मतिज्ञानमें अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार ज्ञानकी श्रेणिया क्रमसे होती हैं तब कहीं इंद्रिय या मनमें प्राप्त पदार्थका कुछ बोध होता है ऐसा ज्ञान केवली भगवानके नहीं है। अविरज्ञानके होने ही क्षयोपशमिक ज्ञान चारों नष्ट होजाते हैं। वास्तवमें ज्ञान एक ही है। आवरण कम अधिककी अपेक्षासे ज्ञानके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान ऐसे चार भेद हैं। जब आवरणका परदा बिल्कुल हट गया तब चारके भेद भी मिट गए—जैसा स्वभाव आत्माका था वैसा ज्ञान स्वभाव प्रगट होगया। चार ज्ञानोंकी अपेक्षासे इस स्वाभाविक ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं। जिससमय क्षीणमोह गुणस्थानमें ठिहरकर अन्तर्मुहूर्त तक आत्मानुभव किया जाता है इसी समय आत्मानुभवरूप

पदार्थोंको एक साथ प्रत्यक्ष जाननेका समर्थ, अविनाशी तथा अखंडपनेसे प्रकाश करनेवाले केवलज्ञान परिणमन करते हैं अत एव उनके लिये कोई भी पदार्थ परोक्ष नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि केवलज्ञानीकी अतीव भारी सामर्थ्य है। इन्द्रिय ज्ञानमें बहुत तुच्छ शक्ति होती है। जो इंद्रिय स्पर्शके विषयको जानती है वह अन्य विषयोंको नहीं जान सक्ती, जो [illegible] जानती है वह सबको नहीं जान सक्ती। इस तरह एक एक इंद्रिय एक एक विषयको जानती है परन्तु केवलज्ञानीकी आत्मामें सर्व ज्ञानावरणीय कर्मके नाश होनेसे ऐसी शक्ति पैदा होगई है कि आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमेंसे प्रत्येक प्रदेशमें सर्व ही इंद्रियोंसे जो ज्ञान होता है वह एकसाथ होता है यह सर्व ज्ञान [illegible] अर्थात् हरएक आत्माका प्रदेश सर्व ही विषयोंको एक साथ जाननेको समर्थ है। यह कि तीनलोक तीन कालका सब पर्यायोंको और अलोकाकाशको एक आत्माका प्रदेश जान सक्ता है। ऐसा निर्मल ज्ञान शुद्ध आत्मामें सर्व प्रदेशोंमें व्याप्त होता है। इस ज्ञानके [illegible] सहायता बिल्कुल नहीं रही है। यह ज्ञान पराधीन नहीं है किंतु स्वाधीन है। ऐसा केवलज्ञान एक साधुको स्वयं ही शुद्धोपयोगमें तन्मय होनेसे प्राप्त होता है। कोई [illegible] ज्ञानकी शक्तिको देता नहीं है न यह आत्मा किसी अन्य पदार्थसे इस ज्ञानकी शक्तिको प्राप्त करता है यह केवलज्ञान इस आत्माका ही स्वभाव है। यह इस आत्मामें ही था आवरणके दूर होनेसे अपने ही द्वारा प्रकाशित होजाता है। ऐसे केवल -

ज्ञानमें सर्व ही ज्ञेय सदाकाल प्रत्यक्ष रहते हैं, कोई भी कहीं जो कभी भी कोई पदार्थ या गुण या पर्याय ऐसी नहीं है जो केवलज्ञानीके ज्ञानमे परे हो या परोक्ष हो, इसीको सर्वज्ञता कहते हैं। केवलज्ञानमें सबसे अधिक अविभाग परिच्छेद होते हैं, उत्कृष्ट अनंतानंत भेद यहीं प्राप्त होता है। इस लिये षट्द्रव्यमयी उपस्थित समुदायके सिवाय यदि अनन्तानन्त ऐसे समुदाय हों तो भी केवलज्ञानमें जाने जा सक्ते हैं। ऐसी अपूर्व शक्ति इस आत्माको शुद्धोपयोग द्वारा प्राप्त होती है ऐसा जानकर आत्मार्थी जीवको उचित है कि रागद्वेष मोहका त्याग करके एक मनसे साम्यभाव या शुद्धोपयोगका मनन करे, यही तात्पर्य है।

इस तरह केवलज्ञानियोंको सर्व प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहते हुए प्रथम स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुई ॥ २२ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है तथा ज्ञान व्यवहारसे सर्वगत है–

आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोगालोगं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥ २३ ॥

आत्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टं ।
ज्ञेयं लोकालोकं तस्माज्ज्ञानं तु सर्वगतम् ॥ २३ ॥

सामान्यार्थ– आत्मा ज्ञानगुणके बराबर है, तथा ज्ञान ज्ञेय पदार्थोंके बराबर कहा गया है और ज्ञेय लोक और अलोक हैं इसलिये ज्ञान सर्वगत या सर्वव्यापक है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(आदा णाणपमाणं)

आत्मा ज्ञान प्रमाण है अर्थात् ज्ञानके साथ आत्मा हीन या अधिक नहीं है इसलिये ज्ञान जितना है उतना आत्मा है। कहा है "समगुणपर्याय द्रव्य भवति" अर्थात् द्रव्य अपने गुण और पर्यायों न होता है। इस वचनसे वर्तमान मनुष्यभवमें यह आत्मा वर्तमान मनुष्य पर्यायके समान प्रमाणवाला है तैसे ही मनुष्य पर्यायके प्रदेशोंमें रहनेवाला ज्ञान गुण है। जैसे यह आत्मा इस मनुष्य पर्यायमें ज्ञान गुणके बराबर प्रत्यक्षमें दिखलाई पड़ता है तैसे निश्चयसे सदा ही अव्याबाध और अविनाशी सुख आदि अनंत गुणोंका आधारभूत जो यह केवलज्ञान गुण तिस प्रमाण यह आत्मा है। (णाणं णेयप्पमाणं) ज्ञान ज्ञेय प्रमाण (उद्दिट्ठं) कहा गया है। जैसे ईंधनमें स्थित आग ईंधनके बराबर है ऐसे ही ज्ञान ज्ञेयके बराबर है। (णेयं लोयालोयं) ज्ञेय लोक और अलोक हैं। शुद्धबुद्ध एक स्वभावमई सर्व तरहसे उपादेयभूत ग्रहण करने योग्य परमात्म द्रव्यको आदि लेकर छः द्रव्यमई यह लोक है। लोकके बाहरी भागमें जो शुद्ध आकाश है सो अलोक है। ये दोनों लोकालोक अपने अपने अनंत पर्यायोंमें परिणमन करते हुए अनित्य हैं तौ भी द्रव्यार्थिक नयसे नित्य हैं। ज्ञान लोक अलोकको जानता है। (तम्हा) इस कारणसे (णाणं तु सव्वगयं) ज्ञान भी सर्वगत है। अर्थात् क्योंकि निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धोपयोगकी भावनाके बलसे पैदा होनेवाला जो केवलज्ञान है वह पत्थरमें टांकीसे उकेरे हुएके न्यायसे पूर्वमें कहे गये सर्व ज्ञेयको जानता है इसलिये व्यवहार नयसे ज्ञान सर्वगत कहा गया है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है।

भावार्थ-यहां आचार्यने बताया है कि गुण और गुणी एक क्षेत्रावगाही होते हैं तथा हरएक गुण अपने आधारभूत द्रव्यमें व्यापक होता है। जितने प्रदेश द्रव्यके होते हैं उतने ही प्रदेश गुणोंके होते हैं। ऐसा होनेपर भी गुण स्वतंत्रतासे अपना अपना कार्य करता है। यहां आत्मा द्रव्य है, और उसका मुख्य गुण ज्ञान है। ज्ञान आत्माके प्रमाण है आत्मा ज्ञानके प्रमाण है। आत्मा असंख्यात प्रदेशी है इसलिये उसका ज्ञान गुण भी असंख्यात प्रदेशी है। दोनोंका तादात्म्य सम्बन्ध है, जो कभी अलग नहीं था न अलग होसकता है। यद्यपि ज्ञान गुणकी सत्ता आत्मामें ही है तथापि ज्ञान गुण अपने पूर्ण कार्यको करता है अर्थात् सर्व जानने योग्य पदार्थोंको जानता है, कोई ज्ञेय उससे बाहर नहीं रह जाता इससे विषयकी अपेक्षा ज्ञान ज्ञेयोंके बराबर है। ज्ञेयोंका विस्तार देखा जाय तो सर्व लोक और अलोक है। जितने द्रव्य गुण व तीनकालवर्ती पर्याय हैं वे सब जाननेके विषय हैं और ज्ञान उन सबको जानता है इस कारण ज्ञानको सर्वगत या सर्व-व्यापक कह सक्ते हैं।

यहां पर आंखका दृष्टांत है। जैसे आंखकी पुतली अपने स्थान पर रहती हुई भी विना स्पर्श किये बहुत दूरसे भी पदार्थोंको जान लेती है, ऐसे ही ज्ञान आत्माके प्रदेशोंमें ही रहता है तथापि विषयकी अपेक्षा सर्व लोकालोकको जानता है। यहां पर कोई २ ज्ञानको सर्वथा आकाश प्रमाण व्यापक मान लेते हैं उनका निषेध किया कि ज्ञान द्रव्यको छोड़कर चला नहीं जाता। वह लोकालोकको जानता है तथापि आत्मामें ही रहता है। कोई २

आत्माको भी सर्वव्यापक मानते हैं उनके लिये यह कहा गया कि जब ज्ञान विषयकी अपेक्षा सर्वव्यापक है तब ज्ञानका धनी आत्मा भी विषयकी अपेक्षा सर्वव्यापक है। परन्तु प्रदेशोंकी अपेक्षा आत्मा असंख्यात प्रदेशोंसे कमती बढ़तो नहीं होता-इसी प्रमाण उसका ज्ञान गुण रहता है। यद्यपि आत्मा निश्चयसे असंख्यात प्रदेशी है तथापि किसी भी शरीरमें रहा हुआ संकोचरूप शरीरके प्रमाण रहता है। मोक्ष अवस्थामें भी अंतिम शरीरसे किंचित कम आकार रखता हुआ सदा स्थिर रहता है। इस तरहका पुरुषाकार होनेपर भी वह आत्मा ज्ञान गुणकी अपेक्षा सर्वको जानता है। आत्माका यह स्वभाव जैनाचार्योंने ऐसा बताया है जो स्वरूप अनुभव किये जानेपर ठीक जचता है क्योंकि हम आप सर्व अलग २ आत्मा हैं, यदि भिन्न २ न होते तो एकका ज्ञान, सुख व दुःख दूसरेको हो जाता, जब एक सुखी होते सर्व सुखी होते, जब एक दुःखी होते सर्व दुःखी होते, सो यह बात प्रत्यक्षसे विरोधरूप है। हरएक अलग २ मरता जीता व सुख दुःख उठाता है। आत्मा भिन्न होनेपर भी शरीर प्रमाण किस तरह है इसका समाधान यह है, कि यदि आत्मा शरीर प्रमाण न होकर लोक प्रमाण होता तो जैसे शरीर सम्बन्धी सुख दुःखका भोग होता है वैसे शरीरसे बाहरके पदार्थोंसे भी सुख दुःखका अनुभव होता-सो ऐसा होता नहीं है। अपने शरीरके भीतर ही जो कुछ दुःख सुखका कारण होता है उन्हीको आत्मा अनुभव करता है इससे शरीरसे अधिक फैला हुआ आत्मा नहीं है। यदि शरीरमें सर्व ठिकाने

व्यापक आत्माको न माने, केवल एक बिंदुमात्र माने तो जह वह बिंदुमात्र होगा वहींके सुख दुःख मालूम पड़ेगा-पर शरीरके सर्व ठिकानोंका नहीं-यह बात भी प्रत्यक्षसे विरुद्ध है। यदि शरीरमें एक ही साथ पगमें मस्तकमें व पेटमें सुई भोकी जावे, तो वह एक साथ तीनों दुःखोंको वेदन करेगा-अथवा मुखसे स्वाद लेते, आंखसे देखते व विषयभोग करते सर्वांग वेदन होता है, कारण यही है कि आत्मा अखंड रूपसे सर्व शरीरमें व्यापक है। शरीरके किसी एक स्थानपर सुख भासनेसे सर्व अंग प्रफुल्लित हो जाता है। शरीरमें आत्मा संकुचित अवस्थामें है उसके असंख्यात प्रदेश कम व बढ नहीं होते। यद्यपि आत्मा और उसके ज्ञानादि अनंत गुणोंका निवास आत्माके असंख्यात प्रदेश ही हैं तथापि उसके गुण अपने २ कार्यमें स्वतन्त्रतासे काम करते हैं, वहींमें ज्ञान गुण सर्व ज्ञेयोंको जानता है-और जब ज्ञेय लोकालोक हैं तब ज्ञान विषयकी अपेक्षा व्यवहारसे लोकालोक प्रमाण है ऐसा यहां तात्पर्य है। ऐसी अपूर्व ज्ञानकी शक्तिको पहचानकर हमारा यह कर्तव्य होना चाहिये कि इस केवलज्ञानकी प्रगटताके लिये हम शुद्धोपयोगका अनुभव करें तथा उसीकी भावना करें ॥२३॥

उत्थानिका-अब जो [illegible] ज्ञानके बराबर नहीं मानते हैं, ज्ञानसे कमती बढ़ती मानते हैं, उनको दूषण देते हुए कहते हैं—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अधिगो वा, णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥

णाण अप्पत्ति मद, वट्टदि णाण विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा, अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२८॥

ज्ञानमात्मेति मतं वर्तते ज्ञानं विना नात्मानम्।
तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञानं वा अन्यद्वा ॥ २८ ॥

सामान्यार्थ–ज्ञान आत्मा है ऐसा माना गया है क्योंकि ज्ञान आत्माके विना कहीं नहीं रहता है इसलिये ज्ञान आत्मारूप है परन्तु आत्मा ज्ञानरूप भी है तथा अन्यरूप भी है।

अन्वय सहित विशेषार्थ –(णाणं ज्ञानगुण।अप्पत्ति) आत्मा रूप है ऐसा (मद) माना गया है कारण कि (णाणं) ज्ञान गुण (अप्पाणं आत्मा द्रव्यके (विणा) विना अन्य किसी घट पट आदि द्रव्यमें (ण वट्टदि) नहीं रहता है (तम्हा) इसलिये यह जाना जाता है कि किसी अपेक्षासे अर्थात् गुण गुणीकी अभेद दृष्टिसे (णाणं) ज्ञानगुण (अप्पा) आत्मारूप ही है। किंतु (अप्पा) आत्मा (णाणं व) ज्ञानगुण रूप भी है, जब ज्ञान स्वभावकी अपेक्षा विचारा जाता है (अण्णं वा) तथा अन्य गुणरूप भी है जब उसके अंदर पाए जानेवाले सुख वीर्य आदि स्वभावोंकी अपेक्षा विचारा जाता है। यह नियम नहीं है कि मात्र ज्ञानरूप ही आत्मा है। यदि एकान्तसे ज्ञान ही आत्मा है ऐसा कहा जाय तब ज्ञानगुण मात्र ही आत्मा प्राप्त हो गया फिर सुख आदि स्वभावोंका अवकाश नहीं रहा। तथा सुख, वीर्य आदि स्वभावोंके समुदायका अभाव होनेसे आत्माका अभाव हो जायगा। जब आधारभूत आत्माका अभाव हो गया तब उसका आधेयभूत

ज्ञानगुणका भी अभाव हो गया इस तरह एकान्त मतमें ज्ञान और आत्मा दोनोंका ही अभाव हो जायगा। इसलिये किसी अपेक्षासे ज्ञान स्वरूप आत्मा है सर्वथा ज्ञान ही नहीं है। यहां यह अभिप्राय है कि आत्मा व्यापक है और ज्ञान व्याप्य है इस लिये ज्ञान स्वरूप आत्मा हो सक्ता है। तथा आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और अन्य स्वभाव रूप भी है। जैसा ही कहा है "व्यापक तदतन्निष्ठ व्याप्य तन्निष्ठमेव च" व्यापकमें व्याप्य एक और दूसरे अनेक रह सक्ते हैं जबकि व्याप्य व्यापकमें ही रहता है।

भावार्थ-इन गाथामें आचार्यने इस बातको स्पष्ट किया है कि आत्मा केवल ज्ञानमात्र ही नहीं है किंतु अनंत धर्म स्वरूप है। जो कोई आत्माको ज्ञान मात्र ही मानते हैं-ऐसा माननेसे आत्मा द्रव्य, ज्ञानगुण ऐसा कहनेकी कोई जरूरत न रहेगी फिर तो मात्र एक ज्ञानको ही मानना पड़ेगा। तब अकेला ज्ञानगुण बिना किसी आधारके कैसे ठहर सकेगा क्योंकि कोई गुण द्रव्यके बिना पाया नहीं जा सक्ता, द्रव्यका अभाव होनेसे ज्ञानगुणका भी अभाव हो जायगा इससे आचार्यने कहा है कि ज्ञानगुण तो अव श्य आत्मारूप है क्योंकि ज्ञानका और आत्माका एक लक्षणात्मक सम्बन्ध है। आत्मा लक्ष्य है ज्ञान उसका लक्षण है। ज्ञानलक्षणमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव दोष नहीं हैं क्योंकि ज्ञान सर्व आत्माओंको छोड़कर अन्य पुद्गल आदि पांच द्रव्योंमें नहीं पाया जाता तथा ज्ञानवर्जित कोई आत्मा नहीं है इसलिये ज्ञान स्वभाव रूप तो आत्मा अवश्य है परन्तु आत्मा द्रव्य है इससे वह अनन्त गुण व पर्यायोंका आधारभूत समुदाय है। आत्मामें सामान्य व

विशेष अनेक गुण या स्वभाव पाए जाते हैं-हरएक गुण या स्वभाव आत्मामें व्यापक है। तब जैसे एक आम्रके फलको वर्णके व्यापनेकी अपेक्षा हरा, रसके व्यापनेकी अपेक्षा मीठा, गंधके व्यापनेकी अपेक्षा सुगंधित स्पर्शके व्यापनेकी अपेक्षा नर्म कह सक्ते हैं वैसे ही आत्माको अस्तित्व गुणकी अपेक्षा सत्रूप द्रव्य स्वगुणकी अपेक्षा द्रव्यरूप, प्रदेशत्व गुणकी अपेक्षा प्रदेश रूप आकारवान, नित्यत्व स्वभावकी अपेक्षा नित्य, अनित्यत्व स्वभावकी अपेक्षा अनित्य, सम्यक्त गुणकी अपेक्षा सम्यक्ती, चारित्र गुणकी अपेक्षा चारित्रवान, वीर्य गुणकी अपेक्षा वलवान सुख गुणकी अपेक्षा परम सुखी इत्यादि रूप कह सक्ते हैं-अनंत धर्मात्मक है तब ही उसको द्रव्यकी संज्ञा है-गुणोंके समुदायको ही द्रव्य कहते हैं। जो अनेक गुणोंका अखंड पिंड होता है उसे ही द्रव्य कहते हैं-उसमें जब जिस गुणकी मुख्यतासे कहें तब उसको उसी गुण रूप कह सक्ते हैं ऐसा कहते हुए भी अन्य गुणोंकी सत्ताका उसमेंसे अभाव नहीं होजाता। जैसे एक पुरुषमें पितापना पुत्रकी अपेक्षा, पुत्रपना पिताकी अपेक्षा, भानजापना मामाकी अपेक्षा, भतीजापना चाचाकी अपेक्षा, भाईपना भाईकी अपेक्षा इस तरह अनेक सम्बन्ध एक ही समयमें पाए जाते हैं परंतु जब पिता कहेंगे तब अन्य सम्बन्ध गौण हो जावेंगे तथापि उसमेंसे सम्बन्ध चले नहीं गए-यह हमारी शक्तिका अभाव है कि हम एक ही काल अनेक सम्बन्धोंको कह नहीं सक्ते इसी तरह आत्मा अनंत धर्मात्मक है। जब जिस धर्मकी मुख्यतासे कहा जाय तब उस धर्मरूप आत्माको कह सक्ते हैं। अन्य गुणोंकी अपेक्षा ज्ञान गुण

प्रधान है क्योंकि इनहीके द्वारा अन्य गुणोंका व स्वभावोंका बोध होता है इसलिये ज्ञानरूप आत्माको यत्रतत्र कहा है, परन्तु ऐसा कहनेका मतलब यह न निकालना कि आत्मा मात्र ज्ञानरूप ही है किंतु यही समझना कि ज्ञानरूप कहनेमें ज्ञानकी मुख्यता ली गई है। ऐसा वस्तुका स्वरूप है–जो इनको समझता है वही अरहंत और सिद्ध भगवानको तथा अपने तथा पर के आत्माको पहचान सक्ता है।

यह जानते हुए कि केवलज्ञानकी व्यक्ततासे आनन्दमई अनंत सुखी यह आत्मा हो जाता है इसको जिस तरह हो केवलज्ञानके कारणभूत शुद्धोपयोग या साम्यभावका ही मनन करना चाहिये।

इस तरह आत्मा और ज्ञानकी एकता तथा ज्ञानके व्यवहारसे सर्वव्यापकपना है इत्यादि कथन करते हुए दूसरे स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि ज्ञान ज्ञेयोंके समीप नहीं जाता है ऐसा निश्चय है—

णाणी णाणसहावो, अत्था णेयापगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूण, णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिनः।
रूपाणीव चक्षुषो नैवान्योन्येषु वर्तन्ते ॥ २९ ॥

सामान्यार्थ–निश्चय करके ज्ञानी आत्मा ज्ञान स्वभाववाला है तथा ज्ञानीके ज्ञेयस्वरूप पदार्थ चक्षुओंके भीतर रूपी पदार्थोंकी तरह परस्पर एक दूसरेमें प्रवेश नहीं करते हैं।

हैं न दर्पण उनके पास जाता न वे समाके लोग दर्पणमें प्रवेश करते तथापि परस्पर ऐसी शक्ति रखते हैं कि पदार्थ अपने आकार दर्पणको अर्पण करते हैं और दर्पण उनको ग्रहण करता है ऐसा ही ज्ञानका और ज्ञेयका सम्बन्ध जानना चाहिये।

इस बातके स्पष्ट करनेसे आचार्यने आत्माकी सत्ताकी भिन्नता बताकर उसकी केवलज्ञानकी शक्तिकी महिमा प्रतिपादन की है और यह बतलाया है कि जैसे आंख अग्निको देखकर जलती नहीं, समुद्रको देखकर डूबती नहीं, दु खीको देखकर दु खी व सुखीको देखकर सुखी होती नहीं ऐसी ही केवलज्ञानकी महिमा है—सर्व शुभ अशुभ पदार्थ और उनकी अनेक दु खित व सुखित अवस्थाको जानते हुए भी केवलज्ञानमें कोई विकार रागद्वेष मोहका नहीं होता है। वह सदा ही निराकुल रहता है। ऐसे केवलज्ञानके प्रभुत्वको जानकर हमारा कर्तव्य है कि उस शक्तिकी प्रगटताके लिये हम शुद्धोपयोगकी भावना करें यही तात्पर्य है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानी आत्मा ज्ञेय पदार्थोंमें निश्चय नयसे प्रवेश नहीं करता हुआ भी व्यवहारसे प्रवेश किये हुए है ऐसा झलकता है ऐसी आत्माके ज्ञानकी विचित्र शक्ति है।

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदअक्खातीदो जगमसेस॥२९॥

न प्रविष्टो नाविष्टो ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षुः।
जानाति पश्यति नियतमक्षातीतो जगदशेषम्॥२९॥

सामान्यार्थ-ज्ञानी आत्मा ज्ञेय पदार्थोंमें निश्चयसे नहीं पैठा है किन्तु व्यवहारसे पैठा नहीं है ऐसा नहीं है, किन्तु पैठा है जैसे चक्षु रूपी पदार्थोंमें निश्चयसे पैठी नहीं है किन्तु उनको देखती है इससे व्यवहारसे पैठी ही हुई है। ऐसा ज्ञानी जीव इन्द्रियोंसे रहित होता हुआ अपने अतीन्द्रिय ज्ञानसे ज्योंका त्यों यथार्थरूपसे सम्पूर्ण जगतको जानता देखता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(अक्खातीद) इंद्रियोंसे रहित अतीन्द्रिय (णाणी) ज्ञानी आत्मा (चक्खु) आंख (रूवम् इव) जैसे रूपके भीतर वैसे (णेयेसु) ज्ञेय पदार्थोंमें (ण पविट्ठ) निश्चयसे प्रवेश न करता हुआ अथवा (ण अविट्ठ) व्यवहारसे अप्रविष्ट न होता हुआ अर्थात् प्रवेश करता हुआ (णियद) निश्चितरूपसे व संशय रहितपनेसे (असेस) सम्पूर्ण (जगम्) जगतको (पस्सदि) देखता है (जाणदि) जानता है।

जैसे लोचन रूपी द्रव्योंको यद्यपि निश्चयसे स्पर्श नहीं करता है तथापि व्यवहारसे स्पर्श कर रहा है ऐसा लोकमें झलकता है। वैसे यह आत्मा मिथ्यात्त्व रागद्वेष आदि आस्रव भावोंके और आत्माके सम्बन्धमें जो केवलज्ञान होनेके पूर्व विशेष भेदज्ञान होता है उससे उत्पन्न जो केवलज्ञान और केवल दर्शनके द्वारा तीन जगत और तीनकालवर्ती पदार्थोंको निश्चयसे स्पर्श न करता हुआ भी व्यवहारसे स्पर्श करता है तथा स्पर्श करता हुआ ही ज्ञानसे जानता है और दर्शनसे देखता है। वह आत्मा अतीन्द्रिय सुखके स्वादमें परिणमन करता हुआ इन्द्रियोंके विषयोंसे अतीत होगया है। इसलिये जाना जाता है कि निश्चयसे आत्मा पदार्थोंमें प्रवेश

न करता हुआ ही व्यवहारसे ज्ञेय पदार्थोंमें प्रवेश हुआ ही पड़ता है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा और इसका केवलज्ञान अपूर्व शक्तिको रखनेवाले हैं। ज्ञान गुण ज्ञानी गुणीसे अलग कहीं नहीं रह सक्ता है। इसलिये ज्ञान गुणके द्वारा आत्मा सर्व जगतको देखता जानता है। ऐसा वस्तुका स्वभाव है कि ज्ञान अपेक्षाय भी जगतके पदार्थोंके तीन कालवर्ती अवस्थाओंको एक ही समयमें जाननेको समर्थ है। जैसे दर्पण इस बातकी आकांक्षा नहीं करता है कि मैं पदार्थोंको झलकाऊं परन्तु दर्पणकी चमकका ऐसा ही कोई स्वभाव है जिसमें उसके विषयमें आ सकनेवाले सर्व पदार्थ अपेक्षाय उसमें झलकते हैं–वैसे निर्मल केवलज्ञानमें सर्व ज्ञेय स्वय ही झलकते हैं। जैसे दर्पण अपने स्थानपर रहता और पदार्थ अपने स्थानपर रहते तौ भी दर्पणमें प्रवेश हो गए या दर्पण उनमें प्रवेश होगया ऐसा झलकता है वैसे आत्मा और उसका केवलज्ञान अपने स्थानपर रहते और ज्ञेय पदार्थ अपने स्थानपर रहते कोई किसमें प्रवेश नहीं करता तौ भी ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे जब सर्व ज्ञेय ज्ञानमें झलकते हैं तब ऐसा मालूम होता है कि मानो आत्माके ज्ञानमें सर्व विश्व समा गया या यह आत्मा सर्व विश्वमें व्यापक होगया। निश्चयसे ज्ञाता ज्ञेयोंमें प्रवेश नहीं करता यही असली बात है। तौभी व्यवहारसे ऐसा कहनेमें आता है कि आत्मा ज्ञेयोंमें प्रवेश कर गया। गाथामें आंखका दृष्टांत है। यहां भी ऐसा ही भाव लगा लेना चाहिये। आंख शरीरसे कहीं न जाकर सामनेके पदार्थोंको देखती है। असल बात यही है–इसी बातको व्यवहारमें हम इस तरह कहते

है कि मानों आख पदार्थोंमें घुस गई व पदार्थ आखमें घुस गये। ज्ञानकी ऐसी अपूर्व महिमा जानकर हम लोगोंका कर्तव्य है कि उस ज्ञान शक्तिको प्रफुल्लित करनेका उपाय करें। उपाय निजात्मानुभव या शुद्धोपयोग है। इसलिये हमको निरंतर भेद विज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माके अनुभवकी भावना करनी चाहिये और क्षणिक सकल्प विकल्पोंसे पराङ्मुख रहना चाहिये जिससे जगत मात्रको एक समयमें देखने जाननेको समर्थ जो केवलज्ञान और केवल दर्शन सो प्रगट हो जावें।

उत्थानिका-आगे ऊपर कही हुई बातको दृष्टान्तके द्वारा दृढ करते हैं-

रदणमिह इंदणील, दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तंपि दुद्ध, वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥

रत्नं महेन्द्रनीलं दुग्धाध्युषितं यथा स्वभासा।
अभिभूय तदपि दुग्धं वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु ॥३०॥

सामान्यार्थ-इस लोकमें जैसे इन्द्रनीलमणि अर्थात् प्रधान नीलमणि दुधमें डुबाया हुआ अपनी प्रभासे उस दुधको भी तिरस्कार करके वर्तता है वैसे ही ज्ञान पदार्थोंमें वर्तन करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(इह) इस जगतमें (जहा) जैसे (इंदणीलं रदणम्) इन्द्रनील नामका रत्न (दुद्धज्झसियं) दूधमें डुबाया हुआ (सभासाए) अपनी चमकसे (तंपि दुद्धं) उस दूधको भी (अभिभूय) तिरस्कार करके (वट्टदि) वर्तता है (तह) वैसे (णाणम्) ज्ञान (अत्थेसु) पदार्थोंमें

वर्तता है। भाव यह है कि जैसे इन्द्रनील नामका प्रधानरत्न कर्ता होकर अपनी नीलप्रभारूपी कारणसे दूधको नीला करके वर्तन करता है तैसे निश्चय रत्नत्रय स्वरूप परम सामायिक नामा संयमके द्वारा जो उत्पन्न हुआ केवलज्ञान सो आपा परको जाननेकी शक्ति रखनेके कारण सर्व अज्ञानके अंधेरेको तिरस्कार करके एक समयमें ही सर्व पदार्थोंमें ज्ञानाकारसे वर्तता है–यहां यह मतलब है कि कारणभूत पदार्थोंके कार्य जो ज्ञानाकार ज्ञानमें झलकते हैं उनको उपचारसे पदार्थ कहते हैं। उन पदार्थोंमें ज्ञान वर्तन करता है ऐसा कहते हुए भी व्यवहारसे दोष नहीं है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने ज्ञानकी महिमाको और भी दृढ किया है। और इन्द्रनीलमणिका दृष्टांत देकर यह बताया है कि जैसे प्रधान नीलरत्नको यदि सफेद दूधमें डाल दिया जाय तो वह नीलरत्न अपने आकार रूप दूधके भीतर पड़ा हुआ तथा दूधके आकार निश्चयसे न होता हुआ भी अपनी प्रभासे सर्व दुधमें व्याप्त होजाता है अर्थात् दूधका सफेद रंग छिप जाता है और उस दूधका नीला रंग होजाता है तब व्यवहारसे ऐसा कहते हैं कि नीलरत्नने सारे दूधको घेर लिया अथवा दूध नीलरत्नमें समा गया तैसे ही आत्माका पूर्ण केवलज्ञान निश्चयसे आत्माके आकार रहता हुआ आत्माको छोडकर कहीं न जाता हुआ तथा न अन्य ज्ञेय पदार्थोंको अपनेमें निश्चयसे प्रवेश कराता हुआ अपनी अपूर्व ज्ञानकी सामर्थ्यसे सर्व ज्ञेय पदार्थोंको एक समयमें एक साथ जान लेता है।

ज्ञानका ऐसा महात्म्य है कि आपको भी जानता है और परको भी जानता है। आप पर दोनों ज्ञेय हैं तथा ज्ञायक आप है। तब व्यवहारसे ऐसा कहे कि आत्माका ज्ञान सर्व जगतमें प्रवेश कर गया व सर्व जगतके पदार्थ ज्ञानमें प्रवेश कर गए तो कुछ दोष नहीं है।

ज्ञानमें सर्व ज्ञेय पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पडता है जो ज्ञानाकार पदार्थोंका ज्ञानमें होता है उनके निमित्त कारण बाहरी पदार्थ हैं। इसलिये उपचारसे उन ज्ञानाकारोंको पदार्थ कहते हैं। ज्ञान अपने ज्ञानाकारोंको जानता है इसीको कहते हैं कि ज्ञान पदार्थोंको जानता है। ज्ञानमें ज्ञानाकारोंका भेद करके कहना ही व्यवहार है। निश्चयसे ज्ञान आप अपने स्वभावमें ज्ञायकरूपसे विराजमान है-ज्ञेय ज्ञायकका व्यवहार करना भी व्यवहारनयसे है। यहा यह तात्पर्य है कि ऐसा केवलज्ञान इस ससारी आत्माको निश्चय रत्नत्रयमई परम सामायिक सयमरूप स्वात्मानुभवमई शुद्धोपयोगके द्वारा प्राप्त होता है इसलिये हरतरहका पुरुषार्थ करके इस साम्यभावरूप शुद्धोपयोगका अभ्यास करना योग्य है। यही परम सामायिकरूप शातभाव है इस ही भावके द्वारा यह आत्मा यहा भी आनद भोगता है और शुद्धि पाता हुआ सर्वज्ञ हो अनन्त सुखी हो जाता है।

उत्थानिका-आगे पूर्व सूत्रसे यह बात कही गई कि व्यवहारसे ज्ञान पदार्थोंमें वर्तन करता है अब यह उपदेश करते हैं कि पदार्थ ज्ञानमें वर्तते हैं।

जदि ते ण संति अट्ठा, णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं, कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥३१॥

यदि ते न सन्त्यर्था ज्ञाने, ज्ञानं न भवति सर्वगतम्।
सर्वगतं वा ज्ञानं कथं न ज्ञानस्थिता अर्थाः ॥३१॥

सामान्यार्थ-यदि वे पदार्थ केवलज्ञानमें न होवें तो ज्ञान सर्वगत न होवे और जब ज्ञान सर्वगत है तो किस तरह पदार्थ ज्ञानमें स्थित न होंगे ? अवश्य होंगे।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदि) यदि (ते अट्ठा) वे पदार्थ (णाणे) केवलज्ञानमें (ण संति) नहीं हों अर्थात् जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब झलकता है इस तरह पदार्थ अपने ज्ञानाकारको समर्पण करनेके द्वारा ज्ञानमें न झलकते हों तो (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगयं) सर्वगत (ण होइ) नहीं होवे। (वा) अथवा यदि व्यवहारसे (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगयं) सर्वगत आपकी सम्मतिमें है तो व्यवहार नयसे (अट्ठा) पदार्थ अर्थात् अपने ज्ञेयाकारको ज्ञानमें समर्पण करनेवाले पदार्थ (कहं ण) किस तरह नहीं (णाणट्ठिया) केवलज्ञानमें स्थित हैं-किन्तु ज्ञानमें अवश्य तिष्ठते हैं ऐसा मानना होगा। यहां यह अभिप्राय है क्योंकि व्यवहार नयसे ही सब ज्ञेयोंके ज्ञानाकारको ग्रहण करनेके द्वारा सर्वगत कहा जाता है इसलिये ही सब ज्ञेयोंके ज्ञानाकार समर्पण द्वारसे पदार्थ भी व्यवहारसे ज्ञानमें प्राप्त हैं ऐसा कह सके हैं। पदार्थोंके आकारको जब ज्ञान ग्रहण करता है तब पदार्थ अपना आकार ज्ञानको देते हैं यह कहना होगा।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने ज्ञानके सर्वव्यापकपनेको और भी साफ किया है और केवलज्ञानकी महिमा दर्शाई है। ज्ञान यद्यपि आत्माका गुण है और उन ही प्रदेशोंमें निश्चयसे ठहरता है जिनमें आत्मा व्यापक है व जो आत्माके निज प्रदेश हैं तथापि ज्ञानमें ऐसी स्वच्छता है कि जैसे दर्पणकी स्वच्छतामें दर्पणके विषयभूत पदार्थ दर्पणमें साफ साफ झलकते हैं इसीसे दर्पणको आदर्श व पदार्थोंका झलकानेवाला कहते हैं वैसे सम्पूर्ण जगतके पदार्थ अपने तीन कालवर्ती पर्यायोंके साथमें ज्ञानमें एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं इसीसे ज्ञानको सर्वगत या सर्वव्यापी कहते हैं। जिसतरह ज्ञानको सर्वगत कहते हैं उसी तरह यह भी कहसके हैं कि सर्वपदार्थ भी ज्ञानमें झलकते हैं अर्थात सर्वपदार्थ ज्ञानमें समागए। निश्चय नयसे न ज्ञान आत्माके प्रदेशोंको छोडकर ज्ञेय पदार्थोंके पास जाता है और न ज्ञेय पदार्थ अपने २ प्रदेशोंको छोड़कर ज्ञानमें आते हैं कोई किसीमें जाता आता नहीं तथापि व्यवहार नयसे जब ज्ञानज्ञेयका ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है तब यह कहना कुछ दोषयुक्त नहीं है कि जब सर्व ज्ञेयोंके आकार ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं तब जैसे ज्ञानज्ञेयोंमें फैलनेके कारण सर्वगत या सर्वव्यापक है वैसे पदार्थ भी ज्ञानमें प्राप्त, गत या व्याप्त हैं। दोनोंका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। ज्ञान और ज्ञेय दोनोंकी सत्ता होनेपर यह स्वतः सिद्ध है कि ज्ञान उनके आकारोंको ग्रहण करता है और ज्ञेय अपने आकारोंको ज्ञानको देते हैं। तथा पदार्थ ज्ञानमें तिष्ठते हैं ऐसा कहना किसी भी तरह अनुचित नहीं है। यहां यह भी दिखलानेका मतलब है कि

पैदा किये प्रकाश करती है, तैसे केवलदर्शन और केवलज्ञान ज्योति परम निश्चलतासे आत्मामें झलकती रहती हैं। उनमें कोई रागद्वेष मोह सम्बन्धी विकार या कोई चाहना या कोई संकल्प विकल्प नहीं उत्पन्न होता है क्योंकि विकारके कारण मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय होगया है वह ज्ञानदर्शन ज्योति अपने आत्माके प्रदेशोंको छोडकर कहीं जाती नहीं न परद्रव्यको पकड़ती है न उन रूप आप होती है। इस तरह परद्रव्योंसे अपनी सत्ताको भिन्न रखती है। वास्तवमें हरएक द्रव्य अपने गुणोंके साथ एक रूप है परन्तु अन्य द्रव्य तथा उसके गुणोंके साथ एक रूप नहीं है, भिन्न है। एकका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव एक उसीमें है परका द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव उसका उस हीमें है। यदि एकका चतुष्टय दूसरेमें चला जाय तो भिन्न २ द्रव्यकी सत्ताका ही लोप होजाय, सो इस जगतमें कभी होता नहीं। हरएक द्रव्य अनादि अनंत है और अपनी सत्ताको कभी त्यागता नहीं, न परसत्ताको ग्रहण करता है, न परसत्ता रूप आप परिणमन करता है। यही वस्तुका स्वभाव वस्तुमें एक ही काल अस्तित्व और नास्तित्व स्वभावको सिद्ध करता है, वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र, काल भावसे अस्ति स्वभाव है तथा परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्तिस्वरूप है अर्थात् वस्तुमें अपना वस्तुपना तो है परन्तु परका वस्तुपना नहीं है। इस तरह आत्मा पदार्थ और उसके ज्ञानादि गुण अपने ही प्रदेशोंमें सदा निश्चल रहते हैं। निश्चयसे केवलज्ञानी भगवान आप स्वभाव ही-का भोग करते हैं, आप सुखगुणका स्वाद लेते हैं, उनको पर द्रव्योंके देखने जाननेकी कोई अभिलाषा नहीं होती है तथापि

उनके दर्शन ज्ञानकी ऐसी अपूर्व शक्ति है कि सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ अपनी अनंत पर्यायोंके साथ उस ज्ञानदर्शनमें प्रतिबिंबित होते हैं। इसीसे व्यवहारमें ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञानी सर्वको पूर्णपने देखते जानते हैं।

श्री समयसारजीमें भी आचार्यने ऐसा ही स्वरूप बताया है –

ण वि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जई ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो विहु पुग्गलकम्म अणेयविह ॥

अर्थात् ज्ञानी आत्मा अनेक प्रकार पुद्गल कर्मको जानता हुआ भी पुद्गल कर्मरूप न परिणमता है न उसे ग्रहण करता है और न उस पुद्गलकर्मकी अवस्थारूप आप उपजता है।

ज्ञानी आत्मा सर्व ज्ञेयोंको जानते हैं तथापि अपने आत्मीक स्वभावमें रहते हैं ऐसी आत्माकी अपूर्व शक्ति जानकर हमको उचित है कि शुद्ध केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिये शुद्धोपयोगकी भावना करें। यही भावना परम हितकारिणी तथा सुख प्रदान करनेवाली है। इसतरह ज्ञान ज्ञेयरूपसे नहीं परिणमन करता है, इत्यादि व्याख्यान करते हुए तीसरे स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जैसे सर्व आवरण रहित सर्वको प्रगट करनेवाले लक्षणको धारनेवाले केवलज्ञानसे आत्माका ज्ञान होता है तैसे आवरण सहित एक देश प्रगट करनेवाले लक्षणको धरनेवाले तथा केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बीज रूप स्वसंवेदन ज्ञानमई भाव श्रुतज्ञानसे भी आत्माका ज्ञान होता है अर्थात् जैसे केवलज्ञानसे आत्माका जानपना होता है वैसा श्रुतज्ञानसे

भी आत्माका ज्ञान होता है आत्मज्ञानके लिये दोनों ज्ञान बराबर हैं। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि जैसे केवलज्ञान प्रमाण रूप है वैसे ही केवलज्ञान द्वारा दिखलाए हुए पदार्थोंको प्रकाश करनेवाला श्रुतज्ञान भी परोक्ष प्रमाण है। इस तरह दो पातनिकाओंको मनमें रख आगेका सूत्र कहते हैं—

जो हि सुदेण विजाणदि, अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो, भणंति लोगप्पदीवयरा ॥३३

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकरा ॥३३॥

सामान्यार्थ–जो कोई निश्चयसे श्रुतज्ञानके द्वारा स्वभावसे ज्ञायक आत्माको अच्छी तरह जानता है उसको लोकके प्रकाश करनेवाले ऋषिगण श्रुतकेवली कहते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जो) जो कोई पुरुष (हि) निश्चयसे (सुदेण) निर्विकार स्वसंवेदनरूप भाव श्रुत परिणामके द्वारा (सहावेण) समस्त विभावोंसे रहित स्वभावसे ही (जाणगं) ज्ञायक अर्थात् केवलज्ञानरूप (अप्पाणं) निज आत्माको (विजाणदि) विशेष करके जानता है अर्थात् विषयोंके सुखसे विलक्षण अपने शुद्धात्माकी भावनासे पैदा होनेवाले परमानन्दमई एक लक्षणको रखनेवाले सुख रसके आस्वादसे अनुभव करता है। (लोगप्पदीवयरा) लोकके प्रकाश करनेवाले (इसिणो) ऋषि (तं) उस महायोगीन्द्रको (सुयकेवलिं) श्रुतकेवली (भणंति) कहते हैं। इसका विस्तार यह है कि एक समयमें परिणमन करनेवाले सर्व चैतन्यशाली केवलज्ञानके द्वारा आदि अंत रहित

अन्य किसी कारणके विना दूसरे द्रव्योंमें न पाइये ऐसे असाधारण अपनेआपसे अपनेमें अनुभव आने योग्य परम चैतन्यरूप सामान्य लक्षणको रखनेवाले तथा परद्रव्यसे रहितपनेके द्वारा केवल ऐसे आत्माका आत्मामें स्वानुभव करनेसे जैसे भगवान केवली होते हैं वैसे यह गणधर आदि निश्चय रत्नत्रयके आराधक पुरुष भी पूर्वमें कहे हुए चैतन्य लक्षणधारी आत्माका भाव श्रुतज्ञानके द्वारा अनुभव करनेसे श्रुतकेवली होते हैं। प्रयोजन यह है कि जैसे कोई भी देवदत्त नामका पुरुष सूर्यके उदय होनेसे दिवसमें देखता है और रात्रिको दीपकके द्वारा कुछ भी देखता है वैसे सूर्यके उदयके समान केवलज्ञानके द्वारा दिवसके समान मोक्ष अवस्थाके होते हुए भगवान केवली आत्माको देखते हैं और संसारी विवेकी जीव रात्रिके समान संसार अवस्थामें प्रदीपके समान रागादि विकल्पोंसे रहित परम समाधिके द्वारा अपने आत्माको देखते हैं। अभिप्राय यह है कि आत्मा परोक्ष है। उसका ध्यान कैसे किया जाय ऐसा सन्देह करके परमात्माकी भावनाको छोड़ न देना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि यद्यपि केवलज्ञान आत्माका स्वाभाविक ज्ञान है और सर्व स्वपर ज्ञेयोंको एक काल जाननेवाला है इसलिये आत्माको प्रत्यक्षपने जाननेवाला है तथापि उस केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण जो शुद्धोपयोग या साम्यभाव है उस उपयोगमें जो निज आत्मानुभव भाव-श्रुतज्ञानमई होता है वह भी निज आत्माको जाननेवाला है। आत्माका ज्ञान जैसा केवलज्ञानको है वैसा स्वसंवेदनमई श्रुतज्ञानको है। अंतर केवल इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, निराव

रणरूप है और क्षायिक है जब कि श्रुतज्ञान परोक्ष है, मनकी सहायतासे प्रवर्तता है, एक देश निरावरण अर्थात् क्षयोपशम रूप है। केवलज्ञान सूर्यके समान है, श्रुतज्ञान दीपकके समान है। सूर्य स्वाधीनतासे प्रकाशमान है। दीपक तेलकी सहायतासे प्रकाश होता है। यद्यपि एक स्वाधीन दूसरा पराधीन है तथापि जैसे सूर्य घट पट आदि पदार्थोको घट पट आदि रूप दर्शाता है वैसे दीपक घटपट आदि पदार्थोको घटपट आदि रूप दर्शाता है अंतर इतना ही है कि सूर्यके प्रकाशमें पदार्थ पूर्ण स्पष्ट तथा दीपकके प्रकाशमें अपूर्ण अस्पष्ट दीखता है। श्रुतज्ञान द्वादशांग रूप जिनवाणीसे आत्मा और अनात्माके भेद प्रभेदोंको इतनी अच्छी तरह जान लेता है कि आत्मा बिलकुल अनात्मासे भिन्न झलकता है। द्रव्य श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका स्वरूप हृदयमें लेकर वार वार विचार किया जाता है और यह भावना की जाती है कि जैसा आत्माका स्वभाव है वैसा ही मेरा स्वभाव है। ऐसी भावनाके दृढ संस्कारके बलसे ज्ञानोपयोग स्वयं इस आत्म स्वभावके श्रद्धा भावमें स्थिति प्राप्त करता है। जब स्थिति होती है तब स्वानुभव जागृत होता है। उस समय जो आत्माका दर्शन व उसके सुखका वेदन होता है वह अपनी जातिमें केवलज्ञानीके स्वानुभवके समान है। इसलिये श्रुतज्ञानीके स्वानुभवको भाव श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञानीके स्वानुभवको भाव केवलज्ञान कहते हैं। यह भाव केवलज्ञान जब सर्वथा निरावरण और प्रत्यक्ष है तब यह भाव श्रुतज्ञान क्षयोपशम रूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। भावनाके दृढ अभ्यासके बलसे आत्माकी ज्ञानज्योति स्फुरायमान होजाती है।

श्री समाधिशतकमें श्री पूज्यपादस्वामीने कहा है –

सोहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

भावार्थ–वह शुद्ध आत्मा मैं हूं ऐसा संस्कार होनेसे तथा उसीकी भावनासे व उसीमें दृढ संस्कार होनेसे आत्मा अपने आत्मामें ठहर जाता है।

श्री समयसार कलशमें श्री अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं –

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्मारामात्मानमात्मा
पर परिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥३–६॥

भावार्थ–यह है कि जिस तरहसे हो उस तरह लगातार आत्माके ज्ञानकी भावनासे शुद्ध आत्माको निश्चयसे प्राप्त करता हुआ तिष्ठता है तब यह आत्मा अपने आत्माके उपवनमें रमते हुए प्रकाशमान आत्माको परमें परिणतिके रुक जानेसे शुद्ध रूपसे ही प्राप्त करलेता है।

भाव श्रुतज्ञान ही केवलज्ञानका कारण है। दोनोंमें आत्मा का समान ज्ञान होता है। जैसे केवली विकल्परहित स्वभावसे ज्ञाता दृष्टा आत्माको देखते जानते हैं वैसे श्रुतज्ञानी विकल्प रहित स्वभावसे ज्ञाता दृष्टा आत्माको जानते हैं। यद्यपि श्रुतकेवली गणधर आदि ऋषि द्वादशांगके पारगामी होते हैं तथा वे ही स्वसंवेदी ज्ञानी श्रुतकेवली कहलाते हैं और ऐसा ही अभिप्राय टीकाकारने भी व्यक्त किया है तथापि स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा आत्माका

अनुभव करनेकी अपेक्षा द्वादशांगके पूर्ण ज्ञान बिना अल्पज्ञानी चतुर्थ, पंचम, व छठा गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टी, या श्रावक या मुनि भी श्रुतकेवली उपचारसे कहे जासक्ते हैं क्योंकि वे भी उस ही तरह आत्माको अनुभव करते हैं जिस तरह द्वादशांगके ज्ञाता श्रुतकेवली।

यहां आचार्यने भावश्रुतज्ञानको जो स्वानुभव करनेवाला है महिमायुक्त दर्शाया है क्योंकि इस हीके प्रतापसे आत्माका स्वाद आता है तथा आत्माका ध्यान होता है जिसके द्वारा कर्म बंधन कटते हैं और आत्मा अपने स्वाभाविक केवलज्ञानको प्राप्त करलेता है। तात्पर्य्य यह है कि हमको प्रमाद छोड़कर शास्त्रज्ञानके द्वारा निज आत्माको पहचानकर व उसमें श्रद्धान दृढ़ जमाकर आत्माका मनन सतत् करना चाहिये जिससे साम्यभाव प्रगटे और वीतराग विज्ञानताकी शक्ति आत्माकी शक्तिको व्यक्त करती चली जावे ॥३३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शब्दरूप द्रव्यश्रुत व्यवहार नयसे ज्ञान है निश्चय करके अर्थ जाननरूप भावश्रुत ही ज्ञान है। अथवा आत्माकी भावनामें लवलीन पुरुष निश्चय श्रुत केवली हैं ऐसा पूर्व सूत्रमें कहा है, अब व्यवहार श्रुतकेवलीको कहते हैं अथवा ज्ञानके साथ जो श्रुतकी उपाधि है उसे दूर करते हैं—

सुत्तं जिणोवदिट्ठं, पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तज्जाणणा हि णाणं, सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पुग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं ।
तज्जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥ ३४ ॥

सामान्यार्थ-द्रव्यश्रुतरूप पुद्गलद्रव्यमई वचनोंसे जिनेंद्र भगवानके द्वारा उपदेश किया गया है। उस द्रव्यश्रुतका जो ज्ञान है वही निश्चयकर भावश्रुतज्ञान है। और द्रव्यश्रुतको श्रुतज्ञान व्यवहारसे कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सुत्त) द्रव्यश्रुत (पोग्गल दव्वप्पगेहिं वयणेहिं) पुद्गल द्रव्यमई दिव्यध्वनिके वचनोंसे (जिणोवदिट्ठं) जिन भगवानके द्वारा उपदेश किया गया है। (हि) निश्चय करके (तज्जाणणा) उस द्रव्यश्रुतके आधारसे जो जानपना है (णाण) सो अर्थज्ञानरूप भावश्रुत ज्ञान है। (य) और (सुत्तस्स) उस द्रव्यश्रुतको भी (जाणणा) जानपना या ज्ञान संज्ञा (भणिया) व्यवहार नयसे कही गई है। भाव यह है कि जैसे निश्चयसे यह जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप है पीछे व्यवहार नयसे जीव नर नारक आदि रूप भी कहा जाता है। तैसे निश्चयसे ज्ञान सर्व वस्तुओंको प्रकाश करनेवाला अखंड एक प्रतिभास रूप कहा जाता है सो ही ज्ञान फिर व्यवहार नयसे मेघोंके पटलोंसे आच्छादित सूर्यकी अवस्थाविशेषकी तरह कर्म पटलसे आच्छादित अखड एक ज्ञानरूप होकर मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि नामवाला हो जाता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि वास्तवमें ज्ञान ही सार गुण है जो कि इस आत्माका स्वभाव है तथा वह एक अखंड सर्व ज्ञेयोंको प्रकाश करनेवाला है। निश्च

द्रव्य है उष्णता उसका गुण है। इन दोनोंमें कथंचित् भेद व कथंचित् अभेद है। अग्निकी सज्ञा जुदी है उष्णताकी जुदी है यह संज्ञा व नामभेद है। अग्निकी संख्या अनेक प्रकार होसक्ती है जैसे तिनकेकी अग्नि, लकडीकी अग्नि, कोयलेकी अग्नि परंतु उष्णताकी संख्या एक है, अग्निका लक्षण दाहक पाचक प्रकाशक स्वरूपके हैं जब कि उष्णताका लक्षण मात्र दाह उत्पन्न करना है, अग्निका प्रयोजन अनेक प्रकारका होसक्ता है जब कि उष्णताका प्रयोजन गर्मी पहुचाना व शीत निवारण मात्र है इस तरह भेद है तौ भी अग्नि और उष्णताका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। जहां अग्नि है वहां उष्णता जरूर है इसी तरह आत्मा और ज्ञानका कथंचित् भेद व कथंचित् अभेदरूप सम्बन्ध है। आत्मा और ज्ञानकी संज्ञा भिन्न २ है। आत्मा की संख्या अनेक है ज्ञान गुण एक है। आत्माका लक्षण उपयोगवान है। ज्ञान वह है जो मात्र जाने, आत्माका प्रयोजन स्वाधीन होकर निजानन्द भोग करना है जब कि ज्ञानका प्रयोजन अहित त्याग व हितका ग्रहण है इस तरह ज्ञान और आत्मामें भेद है तथापि प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है।

यह आत्मा ज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव की अपेक्षासे है। ऐसा नहीं कि ज्ञान कोई भिन्न वस्तु है उसके संयोगसे आत्माको ज्ञानी कहते हैं। जैसे लकड़ीके संयोगसे लकड़ीवाला, व दतीलेके संयोगसे घास काटनेवाला ऐसा संयोग सम्बन्ध जो आत्मा और ज्ञानका मानते हैं उसके मतमें ज्ञानके संयोग विना आत्मा जड़ पुद्गलवत् होजायगा तब जैसे ज्ञानके संयोगसे जड़ पुद्गलवत् कोई

आत्मा पदार्थ ज्ञानी होजायगा वैसे घट पट आदि प्रत्यक्ष पुद्गल भी ज्ञानके सयोगसे ज्ञानी होजावेंगे, सो ऐसा जगतमें होता नहीं, यदि ऐसा हो तो जड़से चेतन होजाया करें और जब ज्ञानके सयोगसे जड़ चेतन होगा तब चेतन भी ज्ञानके वियोगसे जड़ होजावेगा, यह बड़ा भारी दोष होगा। इससे यह बात निश्चित है कि आत्मा और ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है जो कभी भी छूटनेवाला नहीं है। ज्ञानी आत्मा अपनी ही उपादान शक्तिसे अपने ज्ञानरूप परिणमन करता है। और उसी ज्ञान परिणतिसे अपनी निर्मलताके कारण सर्व ज्ञेय पदार्थोंको जान लेता है और वे पदार्थ भी अपनी शक्तिसे ही ज्ञानमें झलकते हैं जिसको हम व्यवहार नयसे कहते हैं कि सर्व पदार्थ ज्ञानमें समागये।

इस तरह आत्माको ज्ञान स्वभाव मानकर हमें निर्मल केवलज्ञानमई स्वभावकी प्रगटताके लिये शुद्धोपयोगकी सदा भावना करनी चाहिये यही तात्पर्य है ॥३५॥

उत्थानिका—आगे बताते हैं कि आत्मा ज्ञानरूप है तथा अन्य सर्व ज्ञेय हैं अर्थात् ज्ञान और ज्ञेयका भेद प्रगट करते हैं—

तम्हा णाणं जीवो, णेयं दव्वं तिधा समक्खादं।
दव्वंति पुणो आदा, परं च परिणामसंबद्धं ॥३६॥

तस्मात् ज्ञानं जीवो, ज्ञेयं द्रव्यं त्रिधा समाख्यातम्।
द्रव्यमिति पुनरात्मा, परश्च परिणामसंबद्धः ॥ ३६ ॥

सामान्यार्थ-इसलिये जीव ज्ञान स्वरूप है और और

जानने योग्य ज्ञेय द्रव्य तीन प्रकार कहा गया है। ये ज्ञेयभूत द्रव्य किसी अपेक्षा परिणमनशील होता हुआ आत्मा और अनात्मा हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-क्योंकि आत्मा ही अपने उपादान रूपसे ज्ञानरूप परिणमन करता है तैसे ही पदार्थोंको जानता है ऐसा पूर्व सूत्रमें कहा गया है (तम्हा) इसलिये (जीव) आत्मा ही (णाणं) ज्ञान है। (णेयं दव्वं) उस ज्ञानस्वरूप आत्माका ज्ञेय द्रव्य (तिहा) तीन प्रकार अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान पर्यायोंमें परिणमन रूपसे या द्रव्य गुण पर्याय रूपसे या उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपसे ऐसे तीन प्रकार (समक्खादं) कहा गया है। (पुण) तथा (परिणामसंबद्ध) किसी अपेक्षा परिणमनशील (आदा च परं) आत्मा और पर द्रव्य (दव्वंति) द्रव्य हैं तथा क्योंकि ज्ञान दीपकके समान अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है इसलिये आत्मा भी ज्ञेय है।

यहांपर नैयायिक मतके अनुसार चलनेवाला कोई कहता है कि ज्ञान दूसरे ज्ञानसे जाना जाता है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट आदि अर्थात् ज्ञान स्वयं आपको नहीं जानता है। इसका समाधान करते हैं कि ऐसा कहना दीपकके साथ व्यभिचार रूप है। क्योंकि प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है उसके प्रकाशके लिये अन्य दीपककी आवश्यक्ता नहीं है। तैसे ही ज्ञान भी अपने आप ही अपने आत्माको प्रकाश करता है उसके लिये अन्य ज्ञानके होनेकी जरूरत नहीं है। ज्ञान स्वयं स्वपर प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञानसे प्रकाशता है तब वह

ज्ञान फिर दूसरे ज्ञानसे प्रकाशता है ऐसा माना जायगा तो अनंत आकाशमें फैलनेवाली व जिसका दूर करना अतिकठिन ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जायगी सो होना सम्भव नहीं है। इसलिये ज्ञान स्वपर प्रकाशक है ऐसा सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ-यहां आचार्य ज्ञान और ज्ञेयका भेद करते हुए बताते हैं और इस बातका निराकरण करते हैं जो ज्ञान और ज्ञेयको सर्वथा एक मानते हैं। आत्मा द्रव्य है उसका मुख्य गुण ज्ञान है। उस ज्ञानसे ही आत्मा अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है। ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञेय और ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान कहलाता है। यदि मात्र आत्मा ही आत्मा एक पदार्थ हो तो अन्य ज्ञेय न होनेसे आत्माका ज्ञान किसको जाने। इसलिये ज्ञानसे ज्ञेय भिन्न है। यद्यपि ज्ञानमें आप अपनेको भी जाननेकी शक्ति है इसलिये आत्माका ज्ञान ज्ञेय भी है परन्तु इतना ही नहीं है--जगतमें अनंत अन्य आत्माएं हैं, पुद्गल हैं, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्य हैं ये सब एक शुद्ध स्वभावमें रमण करनेवाले आत्माके लिये ज्ञेय हैं। इस कथनका भाव यह है कि हरएक आत्मा स्वभावसे ज्ञाता है परन्तु जानने योग्य ज्ञेय हरएक आत्माके लिये सर्व लोक मात्रके द्रव्य हैं जिसमें आप भी स्वयं शामिल है। ये सर्व ज्ञेय पदार्थ तीन प्रकारसे कहे जासक्ते हैं वह तीन प्रकारसे कथन नीचे प्रकार हो सक्ता है—

(१) द्रव्योंकी भूत, भविष्य, वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा।
(२) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी अपेक्षा।
(३) द्रव्य, गुण, पर्यायकी अपेक्षा।

हरएक द्रव्य इन तीन प्रकारसे तीन स्वभाव रूप है। इन सब छ प्रकारके ज्ञेय पदार्थोको द्रव्य इसी कारणसे कहते हैं कि ये सब द्रव्य परिणमनशील हैं–जो द्रवण करे–परिणमन करे उसे द्रव्य कहते हैं, ऐसा द्रव्यपना लोकके सब पदार्थोंमें विद्यमान है। आत्मा स्वयं ज्ञान स्वभाव रूप है वह अपनी ज्ञान शक्तिसे ही सर्व ज्ञेयोंको जानता है। उस ज्ञानके परिणमनके लिये अन्य किसी ज्ञाकी जरूरत नहीं है। जैसे दीपक स्वभावसे स्वपर प्रकाशक है ऐसे ही आत्माका ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। द्रव्यको तीन प्रकार यदि नहीं माने तो द्रव्य अपनी सत्ताको नहीं रख सक्ता है। जब द्रव्य अपने नामसे ही द्रवणशील है तब उसमें समय २ अवस्थाएं होनी ही चाहिये, यदि द्रव्य सतरूप नित्य न हो तो उसका परिणमन सदा चल नहीं सक्ता। इस अपेक्षासे द्रव्य अपने पर्यायोंके कारण तीन प्रकारका होजाता है। भूतकालकी पर्यायें, भविष्यकालकी पर्यायें तथा वर्तमानकालकी पर्याय। जब पर्याय समय २ अन्य अन्य होती है तब स्वतः सिद्ध है कि हरएक समयमें प्राचीन पर्यायका व्यय होता है और नवीन पर्यायका उत्पाद होता है जब कि पर्यायोंका आधारभूत द्रव्य ध्रौव्यरूप है। इस तरह द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप है। द्रव्य गुण पर्यायोंका समुदाय है–समुदायकी अपेक्षा एक द्रव्य, वह द्रव्य अनंतगुणोंका समुदाय है इससे गुणरूप, और हरएक गुणमें समय २ पर्याय हुआ करती है इससे पर्यायरूप इस तरह द्रव्य, द्रव्य गुणपर्यायरूप है। सम्पूर्ण छ द्रव्य इस तीन प्रकारके स्वभावको रखनेवाले हैं। इन सर्व द्रव्योंको आत्माका ज्ञान जान

लेता है। तो भी पर ज्ञेयोंसे आत्मा सदा भिन्न रहता है-आपके केवलज्ञानकी अपूर्व शक्तिको जानकर हरएक धर्मार्थीका कर्तव्य है कि जिस साम्यभाव या शुद्धोपयोगसे निज स्वरूपका विकाश होता है उस शुद्धोपयोगकी सदा भावना करे।

इस तरह निश्चय श्रुतकेवली, व्यवहार श्रुतकेवलीके कथनकी मुख्यतासे आत्माके ज्ञान स्वभावके सिवाय भिन्न ज्ञानको निराकरण करते हुए तथा ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप कथन करते हुए चौथे स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि आत्माके वर्तमान ज्ञानमें अतीत और अनागत पर्यायें वर्तमानके समान दिखती हैं -

तक्कालिगेव सव्वे, सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टते ते णाणे, विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३७ ॥

तात्कालिका इव सर्व सदसद्भूता हि पर्यायास्तासाम्।
वर्तते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम् ॥ ३७ ॥

सामान्यार्थ-उन जीवादि द्रव्य जातियोंकी सर्व ही विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें निश्चयसे उस ज्ञानमें विशेषतासे वर्तमान कालकी पर्यायोंकी तरह वर्तती हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तासिं दव्वजादीण) उन प्रसिद्ध शुद्ध जीव द्रव्योंकी व अन्य द्रव्योंकी (ते) वे पूर्वोक्त (सव्वे) सर्व (सदसब्भूदा) सद्भूत और असद्भूत अर्थात् वर्तमान और आगामी तथा भविष्य कालकी (पज्जया) पर्यायें (हि) निश्चयसे या स्पष्ट रूपसे (णाणे) केवलज्ञानमें (विसेसदो) विशेष करके अर्थात अपने २ प्रदेश, काल, आकार आदि भेदोंके साथ

सकर व्यतिकर दोषके विना (तत्कालिकेव) वर्तमान पर्यायोंके समान (वट्टते) वर्तती हैं, अर्थात् प्रतिभासती हैं या स्फुरायमान होती हैं। भाव यह है कि जैसे छद्मस्थ अल्पज्ञानी मतिश्रुतज्ञानी पुरुषके भी अतरगमें मनसे विचारते हुए पदार्थोंकी भूत और भविष्य पर्यायें प्रगट होती हैं अथवा जैसे चित्रमई भीतपर बाहुबलि भरत आदिके भूतकालके रूप तथा श्रेणिक तीर्थंकर आद भावी कालके रूप वर्तमानके समान प्रत्यक्ष रूपसे दिखाई पडते वैसे चित्र भीतके समान केवलज्ञानमें भूत और भावी अवस्थाएं भी एक साथ प्रत्यक्ष रूपसे दिखाई पड़ती हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। तथा जैसे यह केवली भगवान परद्रव्योंकी पर्यायोंको उनके ज्ञानाकार मात्रसे जानते हैं, तन्मय होकर नहीं जानते हैं, परन्तु निश्चय करके केवलज्ञान आदि गुणोंका आधारभूत अपनी ही सिद्ध पर्यायको ही स्वसवेदन या स्वानुभव रूपसे तन्मयी हो जानते हैं, वैसे निकट भव्य जीवको भी उचित है कि अन्य द्रव्योंका ज्ञान रखते हुए भी अपने शुद्ध आत्म द्रव्यकी सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय मई अवस्थाको ही सर्व तरहसे तन्मय होकर जाने तथा अनुभव करे यह तात्पर्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने फिर केवलज्ञानकी अपूर्व महिमाको प्रगट किया है-द्रव्योंकी पर्यायें सदाकाल हुआ करती हैं। वर्तमान समय सम्बन्धी पर्यायोंको सद्भूत तथा भूत और भावी पर्यायोंको असद्भूत कहते हैं। केवलज्ञानमें तीन काल सबधी सर्व छ द्रव्योंकी सर्व पर्यायें एक साथ अलग २ अपने

सर्व भेदोंके साथमें झलक जाती हैं। तथा वे ऐसी झलकती हैं मानों वे वर्तमानमें ही मौजूद हैं, इस पर दृष्टांत है कि जैसे कोई चित्रकार अपने मनमें भूतकालमें होगए चौवीस तीर्थंकर व बाहुबलि, भरत व रामचद्र लक्ष्मण आदिकोंके अनेक जीवनके दृश्य अपने मनमें वर्तमानके समान विचारकर भीतपर उनके चित्र बना देता है इस ही तरह भावी कालमें होनेवाले श्री पद्मनाभ आदि तीर्थंकरों व चक्रवर्ती आदिकोंको मनमें विचारकर उनके जीवनके भी दृश्योंको चित्रपर स्पष्ट लिख देता है अथवा जैसे चित्रपटको वर्तमानमें देखनेवाला उन भूत व भावी चित्रोंको वर्तमानके समान प्रत्यक्ष देखता है अथवा जैसे अल्पज्ञानीके विचारमें किसी द्रव्यका विचार करते हुए उसकी भूत और भावी कुछ अवस्थाएं झलक जाती हैं–दृष्टांत–सुवर्णको देखकर उसकी खानमें रहनेवाली भूत अवस्था तथा कंकण कुंडल बननेकी भावी अवस्था मालूम हो जाती है, यदि ऐसा ज्ञान न हो तो सुवर्णका निश्चय होकर उससे आभूषण नहीं बन सके, वैद्य रोगीकी भूत और भावी अवस्थाको विचारकर ही औषधि देता है एक पाचिका स्त्री अन्नकी भूत मलीन अवस्था तथा भावी भात दाल रोटीकी अवस्थाको मनमें सोचकर ही रसोई तय्यार करती है इत्यादि अनेक दृष्टांत हैं तैसे केवलज्ञानी अपने दिव्यज्ञानमें प्रत्यक्ष रूपसे सर्व द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको वर्तमानके समान स्पष्ट जानते हैं। यद्यपि केवलज्ञानी सर्वको जानते हैं तथापि उन पर ज्ञेयोंकी तरफ सन्मुख नहीं है वह मात्र अपने शुद्ध आत्म स्वभावमें ही सन्मुख हैं और उसीके आनंदका स्वाद तन्मयी होकर ले रहे हैं अर्थात्

निश्चयसे वे अपने आपका ही वेदन कर रहे हैं अर्थात् पूर्ण ज्ञान चेतना रूप वर्तन कर रहे हैं। इसी तरह मोक्षार्थी व साम्यभावके अभ्यासीको भी उचित है कि यद्यपि वह अपने श्रुतज्ञानके बलसे अनेक द्रव्योंकी भूत और भावी पर्यायोंको वर्तमानवत् जानता है तौ भी एकाग्र होकर निश्चय रत्नत्रयमई अपने शुद्ध आत्माके शुद्ध भावको तन्मयी होकर जाने तथा उसीका ही आनन्दमई स्वाद लेवे। यही स्वानुभव पूर्ण स्वानुभवका तथा पूर्ण त्रिकालवर्ती ज्ञानका बीज है। वर्तमान और भविष्यमें आत्माको सुखी निराकुल रखनेवाला यही निजानंदके अनुभवका अभ्यास है। इसका ही प्रयत्न करना चाहिये यह तात्पर्य है।

यहांपर यह भी भाव समझना कि जैसे केवली भगवान प्रत्यक्ष सर्व लोक अलोकको देखते जानते हुए भी परम उदासीन तथा आत्मस्थ रहते तैसे श्रुतज्ञानी महात्मा भी श्रुतके आलम्बनसे सर्व ज्ञेयोंको षट्द्रव्योंका समुदाय रूप जानकर उन सबसे उदासीन होकर आत्मस्थ रहते हैं। श्रुतज्ञानीने यद्यपि अनेक विशेष नहीं जाने हैं तथापि सर्व ज्ञानकी कुञ्जी पा ली है इससे परम संतुष्ट है-वीतरागी है।

उत्थानिका-आगे आचार्य दिखलाते हैं कि पूर्व गाथामें जो असद्भूत शब्द कहा है वह सत्ता भूत और भविष्यकी पर्यायोंको ली गई है-

जे णेव हि संजाया, जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूया, पज्जाया णाणपच्चक्खा॥३८॥

ये नैव हि संजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्यायाः।
ते भवंति असद्भूताः पर्याया ज्ञानप्रत्यक्षाः ॥३८॥

सामान्यार्थ-जो पर्यायें अभी नहीं उत्पन्न हुई है तथा जो प्रगटपने पर्यायें हो होकर नष्ट होगई हैं वे पर्यायें असद्भूत होती है तथापि वे केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष वर्तमानके समान झलकती है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जे पज्जाया) जो पर्यायें (णेव हि संजाया) निश्चयसे अभी नहीं पैदा हुई हैं (जे खलु भवीय णट्ठा) तथा जो निश्चयसे हो होकर विनाश हो गई हैं (ते) वे भूत और भावी पर्यायें (असब्भूया) असद्भूत या अविद्यमान (पज्जाया) पर्याय (होंति) हैं, (णाण पच्चक्खा) परन्तु वे सर्व पर्यायें यद्यपि इस समयमें विद्यमान न होनेसे असदभूत हैं तथापि वर्तमानमें केवलज्ञानका विषय होनेसे व्यवहारसे भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ या सद्भूत कही जाती हैं क्योंकि वे सब ज्ञानमें प्रत्यक्ष हो रही हैं। जैसे यह भगवान केवलज्ञानी निश्चय नयसे परमानंद एक लक्षणमई सुख स्वभाव रूप मोक्ष अवस्था या पर्यायको ही तन्मय होकर जानते हैं परन्तु परद्रव्यको व्यवहार नयसे, तैसे आत्माकी भावना करने वाले पुरुषको उचित है कि वह रागादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित स्वसंवेदन पर्यायको ही सर्व तरहसे जाने और अनुभव करे तथा बाहरी द्रव्य और पर्यायोंको गौण रूपसे उदासीन रूपसे जाने।

भावार्थ-यह गाथा पूर्व गाथाके कथनको स्पष्ट करती है कि जिन भूत और भावी पर्यायोंको हम वर्तमान कालमें प्रगटता न होनेकी अपेक्षा अविद्यमान या असत् कहते हैं वे ही पर्यायें

केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष वर्तमानके समान झलक रही हैं। उनको इस ज्ञानका विषय होनेसे विद्यमान या सत् कहते हैं। द्रव्य अपनी भूत भावी वर्तमान पर्यायोंका समुदाय है-द्रव्य सत् है तो वे सब पर्यायें भी सत् रूप हैं। हरएक द्रव्य अपनी समवनीय अनंत पर्यायोंको पीये बैठा है, प्रत्यक्ष ज्ञानीको उसकी अनंत पर्यायें इसी तरह झलक रही हैं जैसे अल्पज्ञानीके वर्तमानमें किसी पदार्थकी भूत और भावी बहुतसी पर्यायें झलक जाती हैं। एक गाढ़ेका थान हाथमें लेते हुए ही उसकी भूत और भावी पर्यायें झलक जाती हैं कि यह गाढ़ा तागोंसे बना है, तागे रूईसे बने हैं, रूई वृक्षसे पैदा होती है, वृक्ष रूईके बीजसे होता है, ये तो भूत पर्यायें हैं तथा इस गाढ़ेकी मिरजई, धोती, टोपी बनाएंगे, तब इसको टुकड़े टुकड़े करेंगे, सीएंगे, धोएंगे, रक्खेंगे, पहनेंगे आदि गाढ़ेकी कम व अधिक अपने ज्ञानके क्षयोपशमके अनुसार भूत भावी अवस्थाएं एक बुद्धिमानको वर्तमानके समान मालूम हो जाती हैं, यहां विचार पूर्वक झलकती हैं वहां केवलज्ञानमें स्वयं स्वभावसे झलकती हैं। हरएक कथन अपेक्षा रूप है। त्रिकालगोचर पर्यायें सब सत् हैं। विवक्षित समयकी पर्यायें विद्यमान या सत् तथा उस समयसे पूर्व या उत्तर समयकी पर्यायें अविद्यमान या असत् कही जाती हैं। केवलज्ञानी जैसे शुद्धतासे निज शुद्धात्माके स्वादमें मग्न हैं वैसे ही एक आत्मानुभवके अभ्यासीको स्वरूपमें तन्मय होना चाहिये तथा अपने आत्माके सिवाय परद्रव्योंको गौणतासे जानना चाहिये, अर्थात् उनको जानते हुए भी उनमें विकल्प न करना चाहिये

भव आगम निक्षेप रूप निज आत्माको, द्रव्य आगम निक्षेप रूप इसको जानना चाहिये। शुद्ध निश्चय नयका विषयभूत यह शुद्ध आत्मा द्रव्य वीतराग है अतएव इसकी ओर सन्मुखता होनी आत्माको वीतराग और शांत करके सुखी बनानेवाली है तथा पूर्व कर्मोंकी निर्जरा करनेवाली तथा अनेक कर्मोंकी संवर करनेवाली है ऐसा जानकर निज द्रव्य रूप बने निज शुद्ध भावका ही मनन करना चाहिये जिससे अनुपम केवलज्ञान प्रगटे और आत्मा परमानंदी होजावे ॥ ३८ ॥

उत्थानिका-आगे इसी बातको दृढ़ करते हैं कि असद्भूत पर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं—

जदि पच्चक्खमजादं, पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं, दिव्वत्ति हि के परूविंति ॥३९

यदि प्रत्यक्षोऽजातः पर्यायः प्रलयितश्च ज्ञानस्य।
न भवति वा तत् ज्ञानं दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ॥३९॥

सामान्यार्थ-यदि भावी और भूत पर्याय केवलज्ञानके प्रत्यक्ष न हो तो उस ज्ञानको दिव्य कौन कहें ? अर्थात् कोई भी न कहे।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदि) यदि (अजादं) अभीतक जो पैदा नहीं हुई है ऐसी भावी (च पलयिदं) तथा जो नष्ट हो गई ऐसी भूत (पज्जायं) पर्याय (णाणस्स) केवलज्ञानके (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष (ण हवदि) न हो (वा) तो (तं णाणं) उस ज्ञानको (दिव्वत्ति) दिव्य अर्थात् अतिशय रूप [illegible] (हि) निश्चयसे (के) कौन (परूविंति) कहें ? अर्थात् कोई भी

यह मतिज्ञान क्षेत्र व कालसे दूर व सूक्ष्म परमाणु आदिको नहीं जान सक्ता है। जो श्रुतज्ञान सैनी जीवमें मन द्वारा काम करता है सो भी अपना उत्कृष्ट क्षयोपशम इतना ही रखता है कि श्री आचारागादि द्वादश अगोंको जानसके। यह ज्ञान भी बहुत थोड़ा है तथा क्रमसे प्रवर्तन करता है। जितना केवलज्ञानी जानते हैं उसका अनन्तवा भाग दिव्यध्वनिसे प्रगट होता। जितना दिव्यध्वनिसे प्रगट होता उतना गणधरोंकी धारणामें नहीं रहता इससे दिव्यध्वनि द्वारा प्रगट ज्ञानका कुछ, अश धारणामें रहता है सो द्वादशागकी रचनारूप है। श्रुतज्ञान इससे अधिक जान नहीं सक्ता। अवधिज्ञान यद्यपि इन्द्रिय और मनद्वारा नहीं होता वहा आत्मा ही प्रत्यक्ष रूपसे जानता है तथापि इस ज्ञानका कार्य्य उपयोग जोड़नेसे होता है जिसमें मनके विकल्पका सहारा होजाता है तथा यह मात्र मात्र मूर्तीक पदार्थोंको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादारूप जानता है। अनन्त द्रव्यों को, अनन्त क्षेत्रको, अनन्त कालको व अनन्त भावोंको नहीं जानसक्ता। मन पर्ययज्ञान भी यद्यपि प्रत्यक्ष है तथापि मन द्वारा विचारनेपर काम करता है इससे मनके विकल्पकी सहायता है तथा यह ढाई द्वीपके क्षेत्रमें रहनेवाले सैनी जीवोंके मनमें तिष्ठते हुए मूर्तीक पदार्थको जानता है। यद्यपि यह अवधिज्ञानके विषयसे सूक्ष्म विषयको जानता है तथापि बहुत कम जानता व बहुत कम क्षेत्रकी जानता है। ये चारों ही ज्ञान किसी अपेक्षासे इन्द्रिय और अनिंद्रिय अर्थात् कुछ इन्द्रिय रूप मनकी सहायतासे होते हैं इसलिये इनको इन्द्रिय ज्ञानमें गर्भित करसके हैं। आचार्यका

अभिप्राय यही झलकता है कि जो छद्मस्थ क्षयोपशम ज्ञानी हैं वे अपने अपने विषयको तो जानसक्ते हैं परंतु बहुतसे ज्ञेय उनके ज्ञानके बाहर रहजाते हैं। जिनको सिवाय क्षायिक केवलज्ञानके और कोई जान नहीं सक्ता है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान ही उपादेय है, ये चार ज्ञान हेय हैं। तथापि इनमेंसे जो आत्म स्व-संवेदनरूप भावश्रुतज्ञान है जिसमें आत्माकी आत्मामें स्वसमय रूप प्रवृत्ति होती है वह इन्द्रिय और मनके विकल्पोंसे रहित निजास्वादरूप आनंदमई ज्ञान है सो उपादेय है क्योंकि यही भेद विज्ञानमूलक आत्मज्ञान केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बीज है। इसलिये स्वतंत्रताके चाहनेवाले ज्ञानीको इन्द्रिय और मनके विकल्पात्मक ज्ञानमें जो इन्द्रियोंके क्षणिक सुखके साधन हैं, रति छोडकर अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्दके कारणरूप स्वसंवेदन ज्ञानमें तन्मयता करनी चाहिये।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि अतीन्द्रिय रूप केवल-ज्ञान ही भूत भविष्यको व सूक्ष्म आदि पदार्थोंको जानता है।

अपदेसं सपदेसं, मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥४१॥

अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम्।
प्रलयं गतं च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितम् ॥४१॥

सामान्यार्थ–जो ज्ञान प्रदेशरहित कालाणु व सप्रदेशी पांच अस्तिकायको, मूर्तको, अमूर्तको तथा भावी और भूत पर्यायोंको जानता है वह ज्ञान अतींद्रिय कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–जो ज्ञान (अपदेस) बहु प्रदेश रहित कालाणु व परमाणु आदिको (सपदेस) बहु प्रदेशी शुद्ध जीवको आदि ले पांच अस्तिकायोंके स्वरूपको (मुत्त) मूर्तीक पुद्गल द्रव्यको (च अमुत्तं) और अमूर्तीक शुद्ध जीव आदि पांच द्रव्योंको (अजादं) अभी नहीं उत्पन्न हुई होनेवाली (च पलय गयं) और छूट जानेवाली भूतकालकी (पज्जयं) द्रव्योंकी पर्यायोंको इस सब ज्ञेयको (जाणदि) जानता है (तं णाणं) वह ज्ञान (अदिंदियं) अतीन्द्रिय (भणियं) कहा गया है। इसी हीसे सर्वज्ञ होता है। इस कारणसे ही पूर्व गाथामें कहे हुए इंद्रियज्ञान तथा मानस ज्ञानको छोड़कर जो कोई विकल्प रहित समाधिमई स्वसंवेदन ज्ञानमें सर्व विभाव परिणामोंको त्याग करके प्रीति व लयता करते हैं वे ही परम आनन्द है एक लक्षण जिसका ऐसे सुख स्वभावमई सर्वज्ञपदको प्राप्त करते हैं यह अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने केवलज्ञानकी और भी विशेषता झलकाई है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहाय विना केवल आत्माकी स्वभावरूप शुद्ध अवस्थामें प्रगट होता है उसीमें यह शक्ति है जो वह बहु प्रदेश रहित असख्यात कालाणुओंको तथा छुटे हुए परमाणुओंको,प्रत्यक्ष जान सके तथा बहु–प्रदेशी सर्व आत्माओंको, पुद्गल स्कधोंको, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा अनंत आकाशको प्रत्यक्ष देख सके। वही सर्व मूर्तीक अमूर्तीक द्रव्यको अलग२ जानता है तथा हरएक द्रव्यकी जो अनंत पर्यायें हो गई हैं व होंगी उन सबको भी अच्छी तरह भिन्न२ जानता है अर्थात् कोई जानने योग्य बात शेष नहीं रह

जाती जो केवलज्ञानमें न झलके। इसीको सर्वज्ञता कहते हैं-व इसीके स्वामी आत्माको सर्वज्ञ कहते हैं। इस कथनसे आचार्यने केवलज्ञानको ही उपादेय कहा है और मति आदि चारों ज्ञानोंको त्यागने योग्य कहा है क्योंकि ये चारों ही अपूर्ण तथा क्रमसे जानते हैं-मतिश्रुत परोक्ष होकर मूर्तीक अमूर्तीक द्रव्योंकी कुछ स्थूल पर्यायोंको जानते हैं-अवधि तथा मनःपर्यय एक देश प्रत्यक्ष होकर अमूर्तीकको नहीं जानते हुए केवल मूर्तीक द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको क्रमसे जानते हैं-परन्तु केवलज्ञान एक काल सब कुछ जानता है क्योंकि यह ज्ञान क्षायिक है, आवरण रहित है जबकि अन्य ज्ञान क्षयोपशमरूप सावरण हैं ऐसा केवलज्ञान प्राप्त करने योग्य है। जो निज हितार्थी भव्य जीव हैं उनको चाहिये कि इन्द्रिय और मनके सर्व विकल्पोंको त्यागकर आत्माभिमुखी हो अपनेमें ही अपने आत्माका स्वसंवेदन प्राप्त करके स्वानुभाव करें और इसी निज आत्माके स्वादमें सदा लवलीन रहें। इसी ही आत्मज्ञानके प्रभावसे परमानन्दमई सर्वज्ञपद प्राप्त होता है। जैसी भावना होती है वैसी फलती है। स्वस्वरूपकी भावना ही स्वस्वरूपकी प्रगटनाकी मुख्य साधिका है, आत्मज्ञानके ही अभ्याससे अज्ञान मिटता है। श्री पूज्यपाद स्वामीने श्रीसमाधिशतकमें कहा है।

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥

भाव यह है कि आत्माकी ही कथनी करे, उसीका प्रश्न दूसरोंको पूछे, उसीकी ही इच्छा करे, उसी हीमें तत्पर होजावे,

करके पीछे पदार्थको जानता है तब पदार्थ अनंत हैं इससे सर्व पदार्थका ज्ञान नहीं हो सक्ता। अथवा तीसरा व्याख्यान यह है कि जब छद्मस्थ अवस्थामें यह बाहरके ज्ञेय पदार्थोंका चिंतवन करता है तब रागद्वेषादि रहित स्वसंवेदन ज्ञान इसके नहीं है। स्वसंवेदन ज्ञानके अभावमें क्षायिकज्ञान भी नहीं पैदा होता है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ–यहां आचार्य कर्मबंधके कारणीभूत भावकी तरफ लक्ष्य दिला रहे हैं–वास्तवमें निर्विकार निर्विकल्प आत्मानुभवरूप वीतराग स्वरूपाचरण चारित्ररूप शुद्धोपयोग आत्माके ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमन है–इस भावके सिवाय जब कोई अल्पज्ञानी किसी भी ज्ञेय पदार्थको विकल्प रूपसे जानता है और यह सोचता है कि यह घट है यह पट है यह नील है यह पीत है यह पुरुष है या, यह स्त्री है, यह सज्जन है या यह दुर्जन है, यह धर्मात्मा है या अधर्मी है, यह ज्ञानी है या यह अज्ञानी है तब विशेष रागद्वेषका प्रयोजन न रहते हुए भी हेय या उपादेय बुद्धिके विकल्पके साथ कुछ न कुछ रागद्वेष होय ही जाता है। यह भाव स्वानुभव दशासे शून्य है इसलिये यह भाव कर्मोंके उदयको भोगनेरूप है अर्थात् इस भावमें अवश्य मोहका कुछ न कुछ उदय है जिसको यह भाववान अनुभव कर रहा है। ऐसी दशामें मोह भोक्ताके क्षायिक निर्मल केवलज्ञान उस समय भी नहीं है तथा आगामी भी केवलज्ञानका कारण वह सविकल्प सराग भाव नहीं है। केवलज्ञानका कारण तो भेद विज्ञान है मूल जिसका निश्चल स्वात्मानुभव ही है।

यदि कोई यह माने कि ज्ञान प्रत्येक पदार्थरूप परिणमन करके अर्थात् उधर अपना विकल्प लेजाकर जानता है तब वह ज्ञान एकके पीछे दूसरे फिर तीसरे फिर चौथे इसतरह क्रमवर्ती जाननेसे वह सर्व पदार्थोंका एक काल ज्ञाता सर्वज्ञ नहीं होसक्ता।

जिनेन्द्र अर्थात् तीर्थंकरादिक प्रत्यक्ष ज्ञानियोंने यही बताया है कि पर पदार्थके भोगनेवालेके रागादि विकल्प हैं जहा कर्मोंका उदय है। इसलिये परमें सन्मुख हुआ आत्मा न वर्तमानमें निज स्वरूपका अनुभव करता है न आगामी उस स्वानुभवके फलरूप केवलज्ञानको प्राप्त करेगा, परन्तु जो कर्मोदयका भोग छोड़ निज शुद्ध स्वभावमें अपनेसे ही तन्मय हो जायगा वही वर्तमानमें निजानन्दका अनुभव करेगा तथा उसीके ही ज्ञानावरणीयका क्षय होकर निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न होगा अर्थात् जहा वीतरागता है वहीं कर्मोंकी निर्जरा है तथा जहा सरागता है वहीं कर्मोंका बध है। अर्थात् रागादि ही बधका कारण है॥ ४२॥

उत्थानिका–आगे निश्चय करते हैं कि अनन्त पदार्थोंको जानते हुए भी ज्ञान बन्धका कारण नहीं है। और न रागादि रहित कर्मोंका उदय ही बधका बध कारण है। अर्थात् नवीन कर्मोंका बध न ज्ञानसे होता है न पिछले कर्मोंके उदयसे होता है किन्तु राग द्वेष मोहसे बन्ध होता है।

उदयगदा कम्मंसा, जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु हि मुहिदो रत्तो, दुट्ठो वा बंधमणुहवदि॥४३॥

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिदा ।
तेसु हि मुहो रत्तो, दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥ ४३ ॥

सामान्यार्थ-जिनवर वृषभोंने उदयमें आए हुए कर्मोंके अंशोंको स्वभावसे परिणमते हुए कहा है। उन उदयमें प्राप्त कर्मोंमें जो मोही रागी वा द्वेषी होता है वह बंधको अनुभव करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(उदयगदा) उदयमें प्राप्त (कम्मसा) कर्मांश अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि मूल तथा उत्तर प्रकृतिके भेद रूप कर्म (जिणवरवसहेहिं) जिनेंद्र वीतराग भगवानोंके द्वारा (णियदिणा) नियतपने रूप अर्थात स्वभावसे काम करनेवाले (भणिया) कहे गए हैं। अर्थात् जो कर्म उदयमें आते हैं वे अपने शुभ अशुभ फलको देकर चले जाते हैं वे नए बंधको नहीं करते यदि आत्मामें रागादि परिणाम न हों तो फिर किस तरह जीव बंधको प्राप्त होता है। इसका समाधान करते हैं कि (तेसु) उन उदयमें आए हुए कर्मोंमें (हि) निश्चयसे (मुहिदो) मोहित होता हुआ (रत्तो) रागी होता हुआ (वा दुट्ठो) अथवा द्वेषी होता हुआ (बंधम्) बंधको, (अणुहवदि) अनुभव करता है। जब कर्मोंका उदय होता है तब जो जीव मोह राग द्वेषसे विलक्षण निज शुद्ध आत्मतत्वकी भावनासे रहित होता हुआ विशेष करके मोही, रागी वा द्वेषी होता है सो केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंकी प्रगटता जहां हो जाती है ऐसे मोक्षसे विलक्षण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार बंधको भोगता है अर्थात उसके नए कर्म बंध जाते हैं। इससे यह ठहरा कि

न ज्ञान बन्धका कारण है न कर्मोंका उदय बंधका कारण है किन्तु रागादि भाव ही बंधके कारण हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने आत्माकी अशुद्धि होने अर्थात् कार्माण वर्गणारूप पुद्गलोंसे बंध होनेके कारणोंको प्रगट किया है। प्रथम ही यह बतलाया है कि पदार्थोंका ज्ञान बंधका कारण नहीं है। ज्ञानका काम दीपकके प्रकाशकी तरह मात्र जानना है। उसका काम मोहादि करना नहीं है इससे ज्ञान कम हो या अधिक, ज्ञान बंधका मूल कारण नहीं है। और न कर्मों उदय बंधका कारण है। कर्मोंके उदयसे सामग्री अच्छी या बुरी जो प्राप्त होती है उसमें यदि कोई रागद्वेष मोह नहीं करता है तो वह सामग्री आत्माके बंध नहीं कर सक्ती। और यदि कर्मोंके असरसे शरीर व वचनकी कोई क्रिया होजाय और आत्माका उपयोग उस क्रियामें रागद्वेष न करे तो उस क्रियासे भी नया बंध नहीं होगा। बंधका कारण राग, द्वेष, मोह है। जैसे शरीर द्वारा किसी अखाडेमें व्यायाम करते हुए यदि शरीर सूखा है, तैलादिसे चिकना व भीगा नहीं है तो अखाड़ेकी मिट्टी शरीरमें प्रवेश नहीं करेगी अर्थात् शरीरमें न बंधेगी किन्तु यदि तैलादिकी चिकनई होगी तो अवश्य वहाकी मिट्टी शरीरमें चिपटजायगी। इसीतरह मन वचन कायकी क्रिया करते व जाननेका काम करते हुए व बाहरी सामग्रीके होते हुए यदि परिणाममें राग द्वेष मोह नहीं है तो आत्माके नए कर्मोंका बंध न पडेगा और यदि द्वेष मोह होगा तो अवश्य बंध होगा। ऐसा ही श्री अमृतचंद्र आचार्यने **समयसार कलशमें** कहा है—

न कर्म्मबहुलं जगन्नचलनात्मकं कर्म्म वा
नानेककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ॥
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः ।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥२-८॥

भाव यह है कि कार्माणवर्गणाओंसे भरा हुआ जगत बंधका कारण नहीं है। न हलनचलन रूप मन, वचन, कायके योग बंधके कारण हैं। न अनेक शरीर इंद्रियें व बाहरी पदार्थ बंधके कारण हैं। न चेतन, अचेतनका बध बंधका कारण है। जो उपयोगकी भूमिका रागादिसे एकताको प्राप्त हो जाती है वही राग, द्वेष, मोह, भावकी कालिमा जीवोंके लिये मात्र बंधकी कारण है।

श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेशमें कहते हैं –

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ २६ ॥

भाव यह है कि जो जीव ममता सहित है वह बंधता है। जो जीव ममता रहित है वह बंधसे छूटता है। इसलिये सर्व प्रयत्न करके निर्ममत्व भावका विचार करो।

श्री गुणभद्राचार्य श्री आत्मानुशासनमें कहते हैं–

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बंधः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम् ।
तत्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥ १८० ॥

भाव यह है कि इस जीवके, रागद्वेषसे करी हुई प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे तो बंध होता है। परन्तु तत्वज्ञान पूर्वक की हुई प्रवृत्ति और निवृत्तिसे कर्मोंसे मुक्ति होती है।

रागद्वेष अथवा कषाय चार प्रकारके होते हैं–

अनन्तानुबंधी जो मिथ्यात्वके सहकारी हों और सम्यक्त तथा स्वरूपाचरण चारित्रको रोकें।

अप्रत्याख्यानावरणीय–जो श्रावकके एक देश त्यागको न होने दे।

प्रत्याख्यानावरणीय–जो मुनिके सर्वदेश त्यागको न होने दे।

संज्वलन–यथाख्यातचारित्रको न होने दे।

मिथ्यात्वको मोह कहते हैं। जो मिथ्यादृष्टी अज्ञानी बहिरात्मा है वह हरएक कर्मके उदयमें अच्छी तरह राग व द्वेष करता है तथा रागद्वेष सहित ही पदार्थोंको जानता है। जानकर भी रागद्वेष करता है। यह मोही जीव शरीर व शरीरके इन्द्रिय जनित सुखको ही उपादेय मानता है तथा उसकी उत्पत्तिके कारणोंमें राग और उसके विरोधके कारणोंमें द्वेष करता है। इस लिये विशेष कर्मोंका बन्ध यह मिथ्यादृष्टी ही करता है। अनंत संसारमें भ्रमणका कारण यह मिथ्याभाव है। जिसके अनंतानुबंधी कषायके साथ दर्शन मोह चला जाता है वह सम्यग्दृष्टी व सम्यग्ज्ञानी होजाता है। तब मात्र बारह प्रकारकी कषायका उदय रहता है। सम्यग्दृष्टीके अंतरंगमें परम वैराग्य भाव रहता है, वह अतीन्द्रिय आनन्दको ही उपादेय मानता है–आत्मस्वरूपमें वर्तन करनेकी ही रुचि रखता है। तौ भी जैसा जैसा कषायोंका उदय होता है वैसा वैसा अधिक या कम रागद्वेष होता है। सम्यक्ती इस परिणतिको भी मिटाना चाहता है, परन्तु आत्मशक्तिकी व ज्ञानशक्तिकी प्रबलता विना रागद्वेषको विलकुल दूर नहीं

करसक्ता । इसलिये जितना जितना रागद्वेष होता है उतना उतना कर्मोका बंध होता है । प्रमत्तसंयत नामके छठे गुणस्थानतक बुद्धि पूर्वक रागद्वेष होते हैं पश्चात् ध्याता मुनिके अनुभवमें न आने योग्य रागद्वेष दसवें सूक्ष्म लोभ गुणस्थान तक होते हैं, इसीसे वहीं तक जघन्य मध्यमादि स्थितिको लिये हुए कर्मोका बंध होता है । उसके आगे बंध नहीं होता है । यहीं तक सांपरायिक आश्रव है । आगे जहांतक योगोंका चलन है वहां तक ईर्यापथ आश्रव होता है जो एक समयकी स्थिति धारक साता वेदनीय कर्मोको लाता है । ११वें, १२वें, तेरवें गुणस्थानोंमें बंध नाममात्रसा है । रागद्वेष मोहके अभावसे बंध नहीं है, ऐसा जानकर रागद्वेष मोहके दूर करनेका पुरुषार्थ करना चाहिये जिससे यह आत्मा अबन्ध अवस्थाको प्राप्त हो जावे ।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि केवली अरहंत भगवानोंके तेरहवें सयोग गुणस्थानमें रागद्वेष आदि विभावोंका अभाव है इस लिये धर्मोपदेश विहार आदि भी बंधका कारण नहीं होता है ।

ठाणणिसेज्जविहारा, धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले, मायाचारोव्व इत्थीणं ॥ ४४ ॥

स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम् ।
अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ॥ ४४ ॥

सामान्यार्थ-उन अर्हंत भगवानोंके अर्हंत अवस्थामें उठना, बैठना, विहार तथा धर्मोपदेश स्त्रियोंके मायाचारकी तरह स्वभावसे होते हैं ।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(तेसिं अरहंताण) उन केवलज्ञानके धारी निर्दोष जीवन्मुक्त सशरीर अरहंत परमात्माओंके (काले) अर्हंत अवस्थामें (ठाणणिसेज्जविहारा) उपर उठना अर्थात् खड़े होना, बैठना, विहार करना (य धम्मुवदेस) और धर्मोपदेश इतने व्यापार (णियदय) स्वभावसे होते हैं। इन कार्योंके करनेमें केवली भगवानकी इच्छा नहीं प्रेरक होती है मात्र पुद्गल कर्मका उदय प्रेरक होता है। (इच्छीण) स्त्रियोंके भीतर (मायाचारोव्व) जैसे स्वभावसे कर्मके उदयके असरसे मायाचार होता है। भाव यह है कि जैसे स्त्रियोंके स्त्रीवेदके उदयके कारणसे प्रयत्नके विना भी मायाचार रहता है तैसे भगवान अर्हंतोंके शुद्ध आत्मतत्वके विरोधी मोहके उदयसे होनेवाली इच्छापूर्वक उद्योगके विना भी समवशरणमें विहार आदिक होते हैं अथवा जसे मेघोंका एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना, ठहरना, गर्जना जलका वर्षणा आदि स्वभावसे होता है तैसे जानना। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोह रागद्वेषके अभाव होते हुए विशेष क्रियाए भी बन्धकी कारण नहीं होती हैं।

भावार्थ–इस गाथाकी पहली गाथामें आचार्यने बताया था कि कर्म बन्धके कारण रागद्वेष मोह हैं। न तो ज्ञान है, न पिछले कर्मोंका उदय है। इसी बातको दृष्टान्त रूपसे इस गाथामें सिद्ध किया है। केवलीभगवान पूर्ण ज्ञानी हैं तथा राग द्वेष मोहसे सर्वथा शून्य हैं परन्तु उनके चार अघातिया कर्मोंकी बहुतसी प्रकृतियोंका उदय मौजूद है जिससे कर्मोंके असरसे बहुतसी क्रियाए केवली भगवानके वचन और काय योगोंसे होती हैं तौ

वैसे मायाचारका भाव बुद्धिपूर्वक करते हुए भी स्त्रियोंमें मायाचार रूप भाव और वर्तन हो जाता है। यह बात अधिकतर स्त्रियोंमें पाई जाती है इसीसे आचार्यने बताया है कि जैसे स्त्रियोंके मायाचार कर्मोंके उदयके कारणसे स्वभावसे होता है वैसे स्वभावसे ही केवलीके कर्मोंके उदयके द्वारा विहारादिक होते हैं। वृत्तिकारने मेघोंका दृष्टांत दिया है कि जैसे मेघ स्वभावसे ही लोगोंके पाप पुण्यके उदयसे चलते, ठहरते, गर्जते तथा वर्षते हैं वैसे केवली भगवानका विहार व धर्मोपदेश स्वभावसे होता है तथा इसमें भव्यजीवोंके पापपुण्यका उदयका भी निमित्त पड जाता है। जहांके लोगोंके पापका उदय तीव्र होता है वहां केवली महाराजका न विहार होता है न धर्मोपदेश, किन्तु जहांके जीवोंका तीव्र पुण्यका उदय होता है वहां ही केवली महाराजका विहार तथा धर्मोपदेश होता है। विना इच्छाके पुद्गलकी प्रेरणासे बहुतसी क्रियाएं हमारे शरीर व वचनमें भी होजाती हैं। जैसे श्वासका लेना, चारों तरफकी हवा व परमाणुओंका शरीरमें प्रवेश, भोजन पानका शरीरमें गलना, पचन, रुधिर मांसादि निर्मापन, रोगोंकी उत्पत्ति, आंखोंका फडकना, छींक आना, जमाई आना, शरीरका बढना, बालोंका उगना भूख प्यासका लगना, इंद्रियोंका पुष्ट होना, मार्गमें चलते चलते पूर्व अभ्याससे विना चाहे हुए मार्गकी तरफ चले जाना, स्वप्न व निद्रामें चौंक उठना, बडबडाना, बोलना, अभ्यासके बलसे अन्य विचार करते हुए मुखसे अभ्यस्त पाठोंका निकलजाना आदि। इनको आदि लेकर हजारों वचन व कायके व्यापार हमारी अबुद्धि

पूर्वक विना इच्छाके होते हैं। हम इनमेंसे बहुतसे व्यापारोंके होनेकी व न होनेकी पहलेसे भावना रखते हैं तथा उनके होनेपर किन्हींमें राग व किन्हींमें द्वेष करते हैं इससे हम कर्मबंधको प्राप्त होते हैं। जैसे हम सदा निरोगतासे राग करते तथा सरोगतासे द्वेष करते हैं, पौष्टिक इन्द्रियोंकी चाह रखते हैं, निर्बलतासे द्वेष करते हैं। जब हमारी इस चाहके अनुसार काम होता है तो और अधिक रागी होजाते हैं। यदि नहीं होता है तब और अधिक द्वेषयुक्त होजाते हैं। इस कारणसे यद्यपि हमारे भीतर भी बहुतसी क्रियायें उस समय विशेष इच्छाके विना मात्र कर्मोंके उदयसे हो जाती हैं तथापि हम उनके होते हुए रागद्वेष मोह कर लेते हैं इससे हम अल्पज्ञानी अपनी कषायोंके अनुसार कर्मबंध करते हैं। केवली भगवानके भीतर मोहनीय कर्मका सर्वथा अभाव है इस कारण उनमें न किसी क्रियाके लिये पहले ही वाछा होती है न उन क्रियाओंके होनेपर रागद्वेष मोह होता है इस कारण जिनेन्द्र भगवान कर्मबंध नहीं करते हैं।

जैसे जिनेन्द्र भगवान कर्मबंध नहीं करते हैं वैसे उनके भक्त जिन जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ या मुनि हैं वे भी संसारका कारणीभूत कर्मबंध नहीं करते हैं-जितना कषायका उदय होता है उसके अनुसार अल्पकर्मबंध करते हैं जो मोक्ष मार्गमें बाधक नहीं होता है। सम्यग्दृष्टी तथा मिथ्यादृष्टी प्रगट व्यवहारमें व्यापार, कृषि, शिल्प, खान, पान, भोगादि समान रूपसे करते हुए दिखाई पड़ते हैं तथापि मिथ्यादृष्टी उनमें आशक्त है इससे संसारका कर्म बांधता है। किंतु सम्यग्दृष्टी उनमें आशक्त नहीं है

किंतु भीतरसे नहीं चाहता है- मात्र आवश्यक्ता व कर्मके तीव्र उदयके अनुसार लाचारीसे क्रियायें करता है इसी कारण वह ज्ञानी संसारके कारण कर्मोंको नहीं बांधता है–बहुत अल्प कर्म बांधता है जिसको आचार्योंने प्रशंसारूप वचनोंके द्वारा अबंध कह दिया है। प्रयोजन यह है कि बंध कषायोंके अनुकूल होता है। एक ही कार्यके होते हुए जिसके कषाय तीव्र वह अधिक व जिनके कषाय मंद वह कम पाप बांधता है। एक स्वामीने किसी सेवकको किसी पशुके बधकी आज्ञा दी। स्वामी बध न करता हुआ भी रागकी तीव्रतासे अधिक पापबंध करता है जब कि सेवक यदि मनमें बधसे हेय बुद्धि रखता है और स्वामीकी आज्ञा पालनेके हेतु बध करता है तो स्वामीकी अपेक्षा कम पाप बंध करता है। रागद्वेषके अनुसार ही पाप पुण्यका बंध होता है।

श्रीआत्मानुशासनमें श्रीगुणभद्रस्वामी कहते हैं–

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम् ॥ १८१ ॥

भावार्थ–रत्नत्रयादि गुणोंमें द्वेष व मिथ्यात्वादि दोषोंमें रागकी बुद्धि निश्चयसे पापबंध करती है। तथा इससे विपरीत गुणोंमें राग व दोषोंसे द्वेषकी बुद्धि पुण्य बंध करती है तथा गुण दोषोंमें रागद्वेष रहित वीतराग बुद्धि पाप पुण्यसे जीवको मुक्त करती है।

तात्पर्य यह है कि रागद्वेष मोहको ही बंधका कारण जानकर इनहीके दूर करनेके प्रयोजनसे शुद्धोपयोगमय स्वसंवेदन ज्ञान रूप स्वानुभवका निरन्तर अभ्यास करना योग्य है।

उत्थानिका-आगे पहले जो कह चुके हैं कि रागादि रहित कर्मोंका उदय तथा विहार आदि क्रिया बंधका कारण नहीं होते हैं उसी ही अर्थको और भी दूसरे प्रकारसे दृढ़ करते हैं। अथवा यह बताते हैं कि अरहंतोंके पुण्यकर्मका उदय बंधका कारण नहीं है।

पुण्णफला अरहंता, तेसिं किरिया पुणो हि
ओदयिया।
मोहादीहिं विरहिया, तम्हा सा खाइग त्ति मदा॥४५॥

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषां क्रिया पुनर्हि औदयिकी।
मोहादिभिः विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता॥४५॥

सामान्यार्थ-तीर्थंकर स्वरूप अरहंत पुण्यके फलसे होते हैं तथा निश्चय उनकी क्रिया भी औदयिकी है अर्थात् कर्मोंके उदयसे होती है। मोह आदि भावोंसे शून्य होनेके कारण यह क्रिया क्षायिकी कही गई है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(अरहंता) तीर्थंकरस्वरूप अरहंतभगवान (पुण्णफला) पुण्यके फलस्वरूप हैं-अर्थात् पंच महा कल्याणकी पूजाको उत्पन्न करनेवाला तथा तीन लोकको जीत लेनेवाला जो तीर्थंकर नाम पुण्यकर्म उसके फलस्वरूप अर्हंत तीर्थंकर होते हैं। (पुणो) तथा (तेसिं) उन अरहंतोंकी (किरिया) क्रिया अर्थात् दिव्य ध्वनिरूप वचनका व्यापार तथा विहार आदि शरीरका व्यापाररूप क्रिया (हि) प्रगटरूपसे (ओदयिगा) औदयिक है। अर्थात् क्रिया रहित जो शुद्ध आत्मतत्त्व उससे विपरीत जो कर्म उसके उदयसे हुई है। (सा) वह क्रिया (मोहा-

दीहिं) मोहादिकोंसे अर्थात् मोह रहित शुद्ध आत्मतत्वके रोकने-वाले तथा ममकार अहंकारके पैदा करनेको समर्थ मोह आदिसे (विरहिदा) रहित है (तम्हा) इसलिये (खाइगत्ति) क्षायिक है अर्थात् विकार रहित शुद्ध आत्मतत्वके भीतर कोई विकारको न करती हुई क्षायिक ऐसी (मदा) मानी गई है।

यहांपर शिष्यने प्रश्न किया कि जब आप कहते हैं कि कर्मोंके उदयसे क्रिया होकर भी क्षायिक है अर्थात् क्षयरूप है नवीन बन्ध नहीं करती तब क्या जो आगमका वचन है कि " औदयिकाः भावा बन्धकारणम् " अर्थात् औदयिक भाव बंधके कारण हैं, वृथा हो जायगा ? इस शंकाका समाधान आचार्य करते हैं कि औदयिक भाव बंधके कारण होते हैं यह बात ठीक है परन्तु वे बन्धके कारण तब ही होते हैं जब वे मोह भावके उदय सहित होते हैं। कदाचित् किसी जीवके द्रव्य मोह कर्मका उदय हो तथापि जो वह शुद्ध आत्माकी भावनाके बलसे भाव मोहरूप न परिणमन करे तो बन्ध नहीं होवे और यहां अर्हतोंके तो द्रव्य मोहका सर्वथा अभाव ही है। यदि ऐसा माना जाय कि कर्मोंके उदय मात्रसे बन्ध होजाता है तब तो संसारी जीवोंके सदा ही कर्मोंके उदयसे सदा ही बन्ध रहेगा कभी भी मोक्ष न होगी। सो ऐसा कभी नहीं होसक्ता इसलिये मोहके उदयरूप भावके विना क्रिया बंध नहीं करती किन्तु जिस कर्मके उदयसे जो क्रिया होती है वह कर्म झड़ जाता है। इसलिये उस क्रियाको क्षायिकी कह सक्ते हैं ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें भी आचार्य महाराजने इसी बातका

दृष्टांत दिया है कि कर्मोदय मात्र नवीन बंध नहीं करता। कर्मोंके उदय होनेपर जो जीव उस उदयकी अवस्थामें राग द्वेष मोह करता है वही जीव बंधता है। तीर्थंकर भगवानका दृष्टांत है कि तीर्थंकर महाराजके समवशरणकी रचना होनी, आठ प्रातिहार्य होने, इन्द्रादिकों द्वारा पूजा होनी, विहार होना ध्वनि प्रगट होनी आदि जो जो कार्य दिखलाई पड़ते हैं उनमें कर्मोंका उदय कारण है। मुख्यतासे तीर्थंकर नाम कर्मका उदय है तथा गौणतासे उसके साथ साता वेदनीय आदिका उदय है, परंतु तीर्थंकर महाराजकी आत्मा इतनी शुद्ध तथा विकार रहित है कि उसमें कोई प्रकारकी इच्छा व रागद्वेष कभी पैदा नहीं होता। वह भगवान अपने आत्माके स्वरूपमें मग्न हैं। आत्मीक रसका पानकर रहे हैं। उनके ज्ञानमें सर्व क्रियाएं उदासीन रूपसे झलक रही हैं उनका उनमें किंचित् भी राग नहीं है क्योंकि रागका कारण मोहनीय कर्म है सो प्रभुके बिलकुल नहीं है। प्रभुको अपने ज्ञान [illegible] चाहे [illegible] जुड़ो या मत जुड़ो, देवगण चमरादिसे भक्ति करो या मत करो, इन्द्र व चक्रवर्ती आदि आठ द्रव्योंसे पूजा व स्तुति करो या मत करो, विहार हो या मत हो सर्व समान हैं। कर्मोंके उदयसे क्रियाएं होती हैं सो हों। ये क्रियाएं आत्माके परिणामोंमें विकार नहीं करती हैं मात्र कर्म अपना रस देकर अर्थात् अपना कार्य करते चले जाते हैं। झड़ जाते हैं। क्षय होजाते हैं। इस अपेक्षासे यह औदयिक क्रिया क्षायिक क्रिया कहलाती है।

अभिप्राय यह है कि आठ कर्मोंमेंसे मोहनीय कर्म ही प्रबल

है वही अपने उदयसे निर्बल आत्मामें विकार पैदा कर सक्ता है। जब इसका उदय नहीं है वहां अन्य कर्मका उदय हो वा मत हो, आत्माका न कुछ विगाड़ है न सुधार है। ऐसा जानकर कि मोह रागद्वेष ही बन्धके कारण हैं हम छद्मस्थ संसारी जीवोंका यह कर्त्तव्य है कि हम इनको दूर करनेके लिये निरन्तर शुद्ध आत्माकी भावना रक्खें तथा साम्यभावमें वर्तन करें तथा जब जब पाप या पुण्यकर्म अपना अपना फल दिखलावें तब तब हम उन कर्मोंके फलमें रागद्वेष न करें–समताभावसे ज्ञाता दृष्टा रहते हुए भोगलें, इसका फल यह होगा कि हमारे नवीन कर्म बन्ध नहीं होगा–अथवा यदि होगा तो बहुत अल्प होगा तथा हमारे भावोंमें पापके उदयसे आकुलता और पुण्यके उदयसे उद्धतता नहीं होगी। जो पापके उदयमें मैं दुःखी ऐसा भाव तथा पुण्यके उदयमें मैं सुखी ऐसा अहङ्कारमई भाव करता है वही विकारी होता है और तीव्र बन्धको प्राप्त करता है। अतएव हमको साम्यभावका अभ्यास करना चाहिये ॥ ४५ ॥

उत्थानिका–आगे जैसे अरहतोंके शुभ व अशुभ परिणामके विकार नहीं होते हैं वैसे ही एकान्तसे संसारी जीवोंके भी नहीं होते ऐसे सांख्यमतके अनुसार चलनेवाले शिष्यने अपना पूर्वपक्ष किया उसको दूषण देते हुए समाधान करते हैं–अथवा केवली भगवानोंकी तरह सर्व ही संसारी जीवोंके स्वभावके घातका अभाव है इस बातका निषेध करते हैं–

जदि सो सुहो व असुहो, ण हवदि आदा सयं सहावेण।

संसारो वि ण विज्जदि, सव्वेसिं जीवकायाणं ॥४६॥

यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वयं स्वभावेन।
संसारोऽपि न विद्यते सर्वेषां जीवकायानाम् ॥४६॥

सामान्यार्थ-यदि यह आत्मा अपने स्वभावमें स्वयं शुभ या अशुभ न होवे तो सर्व जीवोंको संसार ही न होवे।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदि) यदि (स आदा) यह आत्मा (सहावेण) स्वभावसे (सयं) आप ही (सुह) शुभ परिणामरूप (व असुह) अथवा अशुभ परिणाम रूप (ण हवदि) न होवे। अर्थात् जैसे शुद्ध निश्चय नय करके आत्मा शुभ या अशुभ भावोंसे नहीं परिणमन करता है वैसे ही अशुद्ध नयसे भी स्वयं अपने ही उपादान कारणसे अर्थात् स्वभावसे अथवा अशुद्ध निश्चयसे भी यदि शुभ या अशुभ भावरूप नहीं परिणमन करता है। ऐसा यदि माना जावे तो क्या दूषण आएगा उसके लिये कहते हैं कि (सव्वेसिं जीवकायाण) सर्व ही जीव समूहोंको (संसारोवि ण विज्जदि) संसार अवस्था ही नहीं रहेगी। अर्थात् संसार रहित शुद्ध आत्मस्वरूपसे प्रति पक्षी जो संसार सो व्यवहारनयसे भी नहीं रहेगा।

भाव यह है कि आत्मा परिणमनशील है। यह कर्मोंकी उपाधिके निमित्तसे स्फटिकमणिकी तरह उपाधिको ग्रहण करता है इस कारण संसारका अभाव नहीं है। अब कोई शंकाकार कहता है कि सांख्योंके यहां संसारका अभाव होना दूषण नहीं है किंतु भूषण ही है। उसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं

है। क्योंकि संसारके अभावको ही मोक्ष कहते हैं सो मोक्ष संसारी जीवोंके भीतर नहीं दिखलाई पड़ती है इसलिये प्रत्यक्षमें विरोध आता है। ऐसा भाव है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्य संसारी जीवोंकी ओर लक्ष्य देते हुए कहते हैं कि केवली भगवानके सिवाय अन्य संसारीजीव शुद्ध केवलज्ञानी नहीं हैं। यहा पर जहांसे अप्रमत्त अवस्था प्रारम्भ होकर यह जीव क्षपक श्रेणी द्वारा क्षीण मोह गुणस्थान तक आता है उस अवस्थाके जीवोंको भी छोड़ दिया है क्योंकि वे अंतर्मुहूर्तमें ही केवली होंगे। तथा उपशम श्रेणीवालोंको भी छोड़ दिया है क्योंकि वहां बुद्धिपूर्वक जीवोंमें शुद्धोपयोग रहता है। प्रमत्त गुणस्थान तक कषायका उदय प्रगट रहता है। इसलिये शुभ या अशुभरूप परिणमन वहांतक संभव है। क्योंकि अधिकांश जीव समूह मिथ्यादृष्टी हैं। इसलिये उनहीकी ओर विशेष लक्ष्य देकर आचार्य कथन करते हैं कि यदि सांख्यके समान संसार अवस्थामें जीवोंको सर्वथा शुद्ध और निर्लेप मान लोगे तो सर्व संसारी जीव पूर्ण शुद्ध सदा रहेंगे सो यह बात प्रत्यक्षमें देखनेमें नहीं आती है। संसारी जीव कोई अति अल्प कोई अल्प कोई उससे अधिक ज्ञानी व शांत दीखते हैं। मुक्त जीवके समान त्रिकालज्ञ त्रिलोकज्ञ वीतराग तथा आनन्दमई नहीं दिख रहे हैं तब सर्वथा व्यवहारमें भी जीवोंको शुद्ध और अप-रिणामी कैसे माना जासक्ता है।? यदि सब शुद्ध माने जावें तब मुक्तिका उपदेश देना ही व्यर्थ हो जायगा। तथा जब संसारी जीव परिणमनशील न होगा तो दुःखी या सुखी कभी नहीं हो

सुका। जड़वत् एक रूप पड़ा रहेगा, सो यह बात द्रव्यके स्वभावसे भी विरोधरूप है। आत्मा संसार अवस्थामें जब उस आत्माको पर्याय या अवस्थाकी अपेक्षा देखा जावे तब यह अशुद्ध, कर्म बद्ध, अज्ञानी, अधीत आदि नाना अवस्थारूप दीखेगा, ही जब मात्र स्वभावकी अपेक्षासे देखें तो केवल शुद्ध रूप दीखेगा। शुद्ध निश्चयनय जैनसिद्धान्तमें द्रव्यके त्रिकाल अबाधित शुद्ध स्वभावकी ओर लक्ष्य दिलाती है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हरएक संसार पर्याय ही शुद्ध रूप है। जब जीवकी संसार अवस्थाको देखा जाता है तब उस दृष्टिको अशुद्ध या व्यवहार दृष्टि या नय कहते हैं। उस दृष्टिसे देखते हुए यही दिखता है कि यह जीव अपने शुद्ध स्वभावमें नहीं है। यद्यपि यह स्फटिकमणिके समान स्वभावसे शुद्ध है तथापि कर्मबंधके कारणसे इसका परिणमन स्फटिकमें लाल,काले,पीले डाकके सम्बन्धकी तरह नाना रंगका विचित्र झलकता है। जब यह अशुभ या तीव्र कषायके उदयरूप परिणमन करता है तब यह अशुभ परिणामवाला और जब शुभ या मंद कषायके उदयरूप परिणमन करता है तब शुभ परिणामवाला स्वयं स्वभावसे अर्थात् अपनी उपादान शक्तिसे होजाता है। जैसे फटिकका निर्मल पाषाण लाल डाकसे लाल रंगरूप या काले डाकसे काले रंगरूप परिणमन करता है वैसे यह परिणमनशील आत्मा तीव्र कषायके निमित्तसे अशुभरूप तथा मंद कषायके निमित्तसे शुभरूप परिणमन करजाता है। उस समय जैसे फटिकका निर्मल स्वभाव तिरोहित या ढक जाता है वैसे आत्माका शुद्ध स्वभाव तिरोहित होजाता है।

पर्याय हरएक द्रव्यमें एक समय एकरूप रहसक्ती हैं। शुद्ध और अशुद्ध दो पर्यायें एक समयमें नहीं रह सक्ती हैं। संसार अवस्थामें मुख्यतासे जीवोंमें अधिकांश अशुद्ध परिणमन तथा मुक्तावस्थामें सर्व जीवोंके शुद्ध परिणमन रहता है। यह जीव आप ही अपने परिणामोंमें कभी शुभ या अशुभ परिणाम वाला होजाता है। इसीसे इसके रागद्वेष मोह भाव होते हैं। जिन भावोंके निमित्तसे यह जीव कर्मोंका बंध करता है और फिर आप ही उनके फलको भोक्ता है, फिर आप ही शुद्ध परिणमन के अभ्याससे शुद्ध होजाता है। सांख्यकी तरह अपरिणामी माननेसे संसार तथा मोक्ष अवस्था कोई नहीं बन सक्ती है। परिणामी माननेसे ही जीव संसारी रहता तथा संसार अवस्थाको त्यागकर मुक्त होजाता है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्यने श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थमें कहा है।

परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसंतत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च॥१०॥
सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न॥ ११

भाव यह है कि अनादि परिपाटीसे ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके निमित्तसे नित्य ही परिणमन करता हुआ यह जीव अपने ही शुभ अशुभ परिणामोंका कर्ता तथा भोक्ता हो जाता है। जब यह आत्मा सर्व आवरणोंसे उतरे हुए शुद्ध निश्चल चैतन्य भावको

प्राप्त करता है तब यह भले प्रकार अपने पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त होता हुआ कृतकृत्य कृतार्थ तथा सुखी हो जाता है।

इस तरह संसारी छद्मस्थोंके स्वभावका घात हो रहा है ऐसा जानकर शुभोपयोग तथा अशुभोपयोगको त्यागकर शुद्धोपयोग अथवा साम्यभावमें परिणमन करना योग्य है जिससे कि आत्मा केवलज्ञानीकी तरह शुद्ध निर्विकार तथा अबन्ध हो जावे यह तात्पर्य है।

इस तरह यह बताया कि राग द्वेष मोह बन्धके कारण हैं, ज्ञान बंधका कारण नहीं है इत्यादि कथन करते हुए छठे स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुई ॥ ४६ ॥

उत्थानिका—आगे कहेंगे कि केवलज्ञान ही सर्वज्ञका स्वरूप है। फिर कहेंगे कि सर्वको जानते हुए एकका ज्ञान होता है तथा एकको जानते हुए सबका ज्ञान होता है इस तरह पांच गाथाओं तक व्याख्यान करते हैं। उनमेंसे प्रथम ही यह निरूपण करते हैं। क्योंकि यहां ज्ञान प्रपंचके व्याख्यानकी मुख्यता है इसलिये उसहीको आगे लेकर फिर कहते हैं कि केवलज्ञान सर्वज्ञ रूप है।

जं तक्कालियमिदरं, जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं, तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७॥

यत्तात्कालिकमितरत् जानाति युगपत्समन्ततः सर्वम्।
अर्थं विचित्रविषमं तत् ज्ञानं क्षायिकं भणितम् ॥४७॥

सामान्यार्थ—जो सर्वांगसे वर्तमानकालकी व उससे भिन्न

भूत भविष्यकालकी पर्याय सहित सर्व ही विचित्र और अनेक जातिके पदार्थको एक ही समयमें जानता है वह ज्ञान क्षायिक कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(ज) जो ज्ञान (समतद) सर्व प्रकारसे अथवा सर्व आत्माके प्रदेशोंसे (विचित्तविसम) नाना भेदरूप अनेक जातिके मूर्त अमूर्त चेतन अचेतन आदि (सव्व अत्थ) सर्व पदार्थोंको (तक्कालियम्) वर्तमानकाल सबघी तथा (इतर) भूत भविष्य काल सम्बन्धी पर्यायों सहित (जुगव) एक समयमें व एक साथ (जाणदि) जानता है। (त णाण) उस ज्ञानको (खाइय) क्षायिक (भणिय) कहा है। अभेद नयसे वही सर्वज्ञका स्वरूप है इसलिये वही ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोंका आधारभूत सर्व तरहसे प्राप्त करने योग्य है इस रूपसे भावना करनी चाहिये। यह तात्पर्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने केवलज्ञानकी महिमाको प्रगट किया है और यह बतलाया है कि ज्ञानका पूर्ण और स्वाभाविक कार्य इसी अवस्थामें झलकता है। जब सर्व ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय हो जाता है तब ही केवलज्ञान प्रगट होता है। फिर यह हो नहीं सक्ता कि इस ज्ञानसे बाहर कोई भी ज्ञेय रह जावे। इसीको स्पष्ट करनेके लिये कहा है कि जगतमें पदार्थ समूह अनत हैं और वे सब एक जातिके व एक प्रकारके नहीं हैं किंतु भिन्न२ जाति व भिन्न२ प्रकारके हैं। विसम शब्दसे यह द्योतित किया है कि जगतमात्र चेतन स्वरूप ही नहीं है, न मात्र अचेतन स्वरूप है किंतु चेतन अचेतन स्वरूप है। जितने जीव हैं वे चेतन

हैं जिनमें पुद्गल आदि पांच द्रव्य हैं वे अचेतन हैं। तथा न केवल मूर्तीक ही है न मात्र अमूर्तीक ही है किंतु पुद्गल मात्र मूर्तीक हैं, शेष पांच द्रव्य अमूर्तीक हैं। विचित्र शब्दसे यह बताया है कि जीव जगतमें एक रूप नहीं है कोई मुक्त है कोई संसारी है, संसारियोंमें भी चतुर्गति रूपसे भिन्नता है। एक गतिमें भी अनेक विचित्र रचना जीवोंके शरीरादिककी उनके भिन्न २ कर्मोंके उदयसे हो रही है। केवलज्ञानकी यह शक्ति है कि सर्व सजाति विजातीय द्रव्योंको उनके विचित्र भेदों सहित जानता है। उस ज्ञानमें निगोदसेले सिद्ध पर्यंत सर्व जीवोंका स्वरूप अलग २ उनके आकारादि भिन्न २ विना रहे हैं वैसे ही पुद्गल द्रव्यकी विचित्रता भी झलक रही है। परमाणु और स्कंध रूपसे दो भेद होनेपर भी स्निग्धपना व रूक्षपनेके अंशोंकी भिन्नताके कारण परमाणु अनंत प्रकारके हैं। दो परमाणुओंके स्कंधको आदि लेकर तीनके, चारके, इसी तरह संख्यातके असंख्यातके व अनंत परमाणुओंके नाना प्रकारके स्कंध बन जाते हैं जिनमें विचित्र काम करनेकी शक्ति होती है। उन सर्व स्कंधोंको व परमाणुओंको केवलज्ञान भिन्न २ जानता है। इसी तरह असंख्यात कालाणु, एक अखंड धर्मास्तिकाय एक अखंड अधर्मास्तिकाय तथा एक अखंड आकाश, जिनमें

ष्यत, वर्तमान पर्यायोंको वर्तमानके समान जानता है। तथा इस ज्ञानमें शक्ति इतनी अपूर्व है कि यह ज्ञान मति ज्ञानादि क्षयोपशमिक ज्ञानोंकी तरह क्रम क्रमसे नहीं जानता है किन्तु एक साथ एक समयमें सर्व पदार्थोंकी सर्व पर्यायोंको अलग अलग जानता है। केवलज्ञानका आकार आत्माके प्रदेशोंके समान है। आत्मामें असख्यात प्रदेश हैं। केवलज्ञान सर्वत्र व्यापक है। हरएक प्रदेशमें केवलज्ञान समान शक्तिको रखता है। जैसे अखड आत्मा केवलज्ञानमई सर्वज्ञेयोंको जानता है वैसे एक एक केवल ज्ञानसे सना हुआ आत्मप्रदेश भी सवज्ञेयोंको जानता है। इस केवलज्ञानकी शक्तिका महात्म्य वास्तवमें हम अल्पज्ञानियोंके ध्यानमें नहीं आसक्ता है। इसका महात्म्य उनहीके गोचर है जो स्वय केवल ज्ञानी हैं। हमको यही अनुमान करना चाहिये कि ज्ञानमें हीनता आवरणसे होती है जब सर्व कर्मोंका आवरण क्षय होगया तब ज्ञानके विकाशके लिये कोई रुकावट नहीं रही। तव ज्ञान पूर्ण अतीन्द्रिय, प्रत्यक्ष, स्वाभाविक होगया। फिर भी उसके ज्ञानसे कुछ ज्ञेय शेष रहजाय यह असभव है। इस ज्ञानमें तो ऐसी शक्ति है कि इस जगतके समान अनते जगत भी यदि होवें तो इस ज्ञानमें झलक सके हैं। ऐसा अद्भुत केवलज्ञान जहा प्रगट है वहीं सर्वज्ञपना है तथा वहीं पूर्ण निराकुलता और पूर्ण वीतरागता है क्योंकि विना मोहनीयका नाश भये ज्ञानका आवरण मिटता नहीं। इसलिये जब सर्व जान लिया तब किसीके जाननेकी इच्छा हो नहीं सक्ती। तथा इन्द्रियाधीन ज्ञान जैसे नहीं रहा वैसे इन्द्रियाधीन विषय सुखका भी यहा अभाव है।

यहां ज्ञाता और ज्ञेय सम्बन्ध लेना चाहिये जितने ज्ञानाको जाना उसने सर्व ज्ञेयोंको जाना ही। यहांपर शिष्यने प्रश्न किया कि आपने यहां यह व्याख्यान किया कि आत्माको जानते हुए सरका जानपना होता है और इसके पहले सूत्रमें कहा था कि सबके जाननेसे आत्माका ज्ञान होता है। यदि ऐसा है तो जब छद्मस्थोंको सर्वका ज्ञान नहीं है तब उनको आत्माका ज्ञान कैसे होगा यदि उनको आत्माका ज्ञान न होगा तो उनके आत्माकी भावना, कैसे होगी। यदि आत्माकी भावना न होगी तो उनको केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होगी। ऐसा होनेसे कोई केवलज्ञानी नहीं होगा। इस प्रकार समाधान करते हैं कि परोक्ष प्रमाणरूप श्रुतज्ञानसे सर्व पदार्थ जाने जाते हैं। यह कैसे, सो कहते हैं कि छद्मस्थोंको भी लोक और अलोकका ज्ञान व्याप्तिज्ञान रूपसे है। यह व्याप्तिज्ञान परोक्षरूपसे केवलज्ञानके विषयको ग्रहण करनेवाला है इसलिये किसी अपेक्षासे आत्मा ही कहा जाता है। अथवा दूसरा समाधान यह है कि छद्मस्थ स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे आत्माको जानते हैं। और फिर उसकी भावना करते हैं। इसी रागद्वेषादि विकल्पोंसे रहित स्वसंवेदनज्ञानकी भावनासे ही केवलज्ञान पैदा होजाता है। इसमें कोई दोष नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें भी आचार्यने केवलज्ञानकी महिमाको और आत्माके ज्ञान स्वभावको प्रगट किया है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है। जो सबको जाने उसे ही ज्ञान कहते हैं। अर्थात् मात्र सामान्यज्ञान सर्व ज्ञेयोंको जाननेवाला है। भिन्न २ पदार्थोंके जाननेको विशेष ज्ञान कहते हैं। ये विशेष ज्ञान सामा

न्यमें व्याप्य हैं अर्थात गर्भित हैं। जो कोई अपने आत्माके स्वभावको पूर्णपने प्रत्यक्ष स्पष्ट जानता है वह नियमसे उस ज्ञान स्वभाव द्वारा प्रगट सर्व पदार्थोंको जानता है। यह ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध दुर्निवार है। जो जो कोई अपने आत्मस्वभावको प्रत्यक्ष नहीं जानता है वह सर्वको भी नहीं जानसक्ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मज्ञानी सर्वका जाननेवाला होता है। यहा यह भी समझना चाहिये कि निर्मल ज्ञानमें दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह सर्व पदार्थोंके आकार स्वय झलकते हैं वह ज्ञान ज्ञेयाकारसा होजाता है। इसलिये जो दर्पणको देखता है वह उसमें झलकते हुए सर्व पदार्थोंको देखता ही है। जो दर्पणको नहीं देखसक्ता है। वह झलकनेवाले पदार्थोंको भी नहीं देख सक्ता है। इसी तरह जो निर्मल शुद्ध आत्माको देखता है वह उसमें झलकते हुए सर्व ज्ञेयरूप अनत द्रव्योंको भी देखता है। इसमें कोई शका नहीं है। ऐसा ज्ञाताके भीतर ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध है। ज्ञानमे जो प्रगटे वह ज्ञेय। ज्ञेयोंको प्रगटाने वह ज्ञान। ज्ञान आत्माका स्वभाव है। इसलिये आत्माको जाननेवाला सर्वज्ञ होता ही है। अथवा जो कोई पुरुष एक द्रव्यको उसकी अनंत पर्य्यायोंकि साथ जाननेको असमर्थ है वह सर्व द्रव्योंको एक समयमें कैसे जानसक्ता है? कभी भी नहीं जानसक्ता है। जिस आत्मामें शुद्धता होगी वही अपनेको भी, दूसरेको भी, एकको भी अनेकको भी, सर्वज्ञेय मात्रको एक समयमें जानसक्ता है। स्वपरका प्रत्यक्ष ज्ञान केवलज्ञानी हीको होता है। जो अल्पज्ञानी हैं वे श्रुतज्ञानके द्वारा परोक्षरूपसे सर्वज्ञेयोंको जानते हैं परतु उनको सर्व

पदार्थ तथा उनकी सर्व अवस्थाएं एक समयमें स्पष्ट २ नहीं मालूम पड सक्ती हैं वे ही श्रुतज्ञानी आत्माको भी अपने स्वानुभवसे ज्ञान लेते हैं। यद्यपि केवलज्ञानीके समान पूर्ण नहीं जानते उनको कुछ मुख्य गुणोंके द्वारा आत्माका स्वभाव अनात्मद्रव्योंसे जुदा भासता है। इसी लक्षणरूप व्याप्तिसे वे स्वस्वरूप आत्माको समझ लेते हैं और इसी ज्ञानके द्वारा निज आत्माके स्वरूपकी भावना करते हैं तथा स्वरूपमें अनुरक्ति पाकर निजानंदका स्वाद लेते हुए वीतरागतामें शोभायमान होते हैं। और इसी शुद्ध भावनाके प्रतापसे वे केवलज्ञानको प्रगट करलेते हैं। ऐसा ज्ञान निज स्वरूपका मनन करना ही कार्यकारी है ॥ ४९ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जो ज्ञान क्रमसे पदार्थोंके जाननेमें प्रवृत्ति करता है उस ज्ञानसे कोई सर्वज्ञ नहीं होसक्ता है अर्थात क्रमसे जाननेवालेको सर्वज्ञ नहीं कहसक्ते।

उप्पज्जदि जदि णाणं, कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं, ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥५०॥

उत्पद्यते यदि ज्ञानं क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिनः।
तन्नैव भवति नित्यं न क्षायिकं नैव सर्वगतम् ॥ ५० ॥

सामान्यार्थ-यदि ज्ञानी आत्माका ज्ञान पदार्थोंको आश्रय करके क्रमसे पैदा होता है तो वह ज्ञान न तो नित्य है, न क्षायिक है, और न सर्वगत है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदि) यदि (णाणिस्स) ज्ञानी आत्माका (णाणं) ज्ञान (अट्ठे) जानने योग्य पदार्थोंको

(पडुच) आश्रय करके (कमसो) क्रमसे (उप्पज्जदि) पैदा होता है। तो (त) वह ज्ञान (णिच्च) अविनाशी (णेव) नहीं (हवदि) होता है अर्थात् जिस पदार्थके निमित्तसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस पदार्थके नाश होने पर उस पदार्थका ज्ञान भी नाश होता है इसलिये वह ज्ञान सदा नहीं रहता है इससे नित्य नहीं है। (ण खाइग) न क्षायिक है क्योंकि वह परोक्ष ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके आधीन है (णेव सव्वगद) और न वह सर्वगत है, क्योंकि जब वह पराधीन होनेसे नित्य नहीं है, क्षयोपशमके आधीन होनेसे क्षायिक नहीं है इसी लिये ही वह ज्ञान एक समयमें सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंको जाननेके लिये असमर्थ है इसी लिये सर्वगत नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञान क्रमसे पदार्थोंका आश्रय लेकर पैदा होता है उस ज्ञानके रखनेसे सर्वज्ञ नहीं होसक्ता है।

भावार्थ–यहां आचार्य केवलज्ञानको ही जीवका स्वाभाविक ज्ञान कहनेके लिये और उसके सिवाय जितने ज्ञान हैं उनको वैभाविक ज्ञान कहनेके लिये यह दिखलाते हैं कि जो ज्ञान पदार्थोंका आश्रय लेकर क्रम क्रमसे होता है वह ज्ञान स्वाभाविक नहीं है। न वह नित्य है, न क्षायिक है और न सर्वगत है। मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ज्ञान ये चारों ही किसी भी पदार्थको क्रमसे जानते हैं–जब एकको जानते हैं तब दूसरेको नहीं जान सके। जैसे मतिज्ञान जब वर्णको जानता है तब रसको विषय नहीं कर सकता और न मनसे कुछ ग्रहण कर सकता है। पाच इंद्रिय और मन द्वारा मतिज्ञान एक साथ नहीं जान सकता

किन्तु एक काल एक ही इन्द्रियसे जान सकता है। उसमें भी थोड़े विषयको जान सकता है उस इन्द्रिय द्वारा ग्रहण योग्य सर्व विषयको नहीं जानता है। आखोंसे पहले थोड़ेसे पदार्थ, फिर अन्य फिर अन्य इस तरह क्रमसे ही पदार्थोंका ज्ञान अवग्रह ईहा आदिके क्रमसे होता है। धारणा होजाने पर भी यदि पुन पदार्थका स्मरण न किया जाय तो वह बात भुला दी जाती है। तथा जो पदार्थ नष्ट होजाते हैं उनका ज्ञान कालान्तरमें नहीं रहता है। इसी तरह श्रुतज्ञान जो अनक्षरात्मक है वह मतिज्ञान द्वारा ग्रहीत पदार्थके आश्रयसे अनुभव रूप होता है और जो अक्षरात्मक है वह शास्त्र व वाणी सुनकर या पढ़कर होता है। शास्त्रज्ञान क्रमसे ग्रहण किया हुआ क्रम से ही ध्यानमें बैठता है। तथा कालान्तरमें बहुतसा भुला दिया जाता है। अवधिज्ञान भी किसी पदार्थकी ओर लक्ष्य दिये जाने पर उसके सम्बन्धमें आगे व पीछेके भवोंका ज्ञान क्रमसे द्रव्य क्षेत्रादिकी मर्यादा पूर्वक करता है। सो भी सदा एकसा नहीं बना रहता है। विषयकी अपेक्षा बदलता रहता है व विस्मरण होजाता है। यही हाल मन पर्ययका है, जो दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको क्रमसे जानता है। इस तरह ये चारों ही ज्ञान क्रमसे जाननेवाले हैं और सदा एकसा नहीं जानते अपेक्षा ज्ञान

अल्प विषयपना होनेका कारण यही है कि वे ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं, जब कि केवलज्ञान सर्व ज्ञानावरणीयके क्षयसे होता है। इसलिये यही ज्ञान क्षायिक है। जब चारों ज्ञानोंका विषय अल्प है तब वे सर्वगत नहीं होसक्के, यह केवलज्ञान ही है जो सर्व पदार्थोंको एक काल जानता है इससे सर्वगत या सर्वव्यापी है।

केवलज्ञानके इस महात्म्यको जानकर हमको उसकी प्राप्तिके लिये शुद्धोपयोगरूप साम्यभावका अभ्यास करना चाहिये। तथा यह निश्चय रखना चाहिये कि इन्द्रियाधीन ज्ञानवाला कभी सर्वज्ञ नहीं होसक्ता। जिसके अतीन्द्रिय स्वाभाविक प्रत्यक्ष ज्ञान होगा वही सर्वज्ञ है॥ ५०॥

उत्थानिका-आगे फिर यह प्रगट करते हे कि जो एक समयमें सर्वको जानसक्ता है उस ही ज्ञानसे ही सर्वज्ञ होसक्ता है।

तेकालणिच्चविसमं सकलं सव्वत्थ संभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ५१

त्रैकाल्यनित्यविषमं सकलं सर्वत्र संभवं चित्रम्।
युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम्॥५१॥

सामान्यार्थ-जैनका ज्ञान जो केवलज्ञान है जो एक समयमें तीन कालके असम पदार्थोंको सदाकाल सबको सर्व लोकमें होनेवाले नाना प्रकारके पदार्थोंको जानता है। अहो निश्चयसे ज्ञानका महात्म्य अद्भुत है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जोण्हं) जैनका ज्ञान

अर्थात् जिन शासनमें जिस प्रत्यक्ष ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं, यह युगपत् (युगपद) एक समयमें (एकसमय समय) सर्व लोकमें स्थित (स्थित) तथा नाना भांति भेदसे विचित्र (चित्र) सम्पूर्ण (त्रैकालिकविषय) तीनकाल सम्बन्धी पदार्थोंको एक काल विषमरूप अर्थात् जैसे उनमें भेद है उन भेदोंके साथ जानता, त्रैकाल नित्यविषय एसा भी पाठ है जिसका भाव है तीन कालके सर्व द्रव्य अपेक्षा नित्य पदार्थोंको (जाणदि) जानता है। (अहो हि णाणस्स माहप्पं) अहो देखो निश्चयसे ज्ञानका माहात्म्य आश्चर्यकारी है। भाव विशेष यह है कि एक समयमें सबको ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे ही सर्वज्ञ होता है ऐसा जानकर क्या करना चाहिये सो कहते हैं। ज्योतिष, मंत्र, वाद रस सिद्धि आदिके जो खंडज्ञान हैं तथा जो मूढ़ जीवोंके चित्तमें चमत्कार करनेके कारण हैं और जो परमात्माकी भावनाके नाश करनेवाले हैं उन सर्व ज्ञानोंमें आग्रह या हठ त्याग करके तीन जगत व तीनकालकी सर्व वस्तुओंको एक समयमें प्रकाश करनेवाले, अविनाशी तथा अखंड और एक रूपसे उद्योतरूप तथा सर्वज्ञत्व शब्दसे कहने योग्य जो केवलज्ञान है, उसकी ही उत्पत्तिका कारण जो सर्व रागद्वेषादि विकल्प जालोंसे रहित स्वाभाविक शुद्धात्माका अभेद ज्ञान अर्थात् स्वानुभव रूप ज्ञान है उसकी भावना करनी योग्य है। यह तात्पर्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने और भी केवलज्ञानके गुणानुवाद गाकर अपनी एकान्त श्रद्धा केवलज्ञानमें प्रगट की है। और यह समझाया है कि लोकालोकमें विचित्र पदार्थ हैं तथा

उनकी तीन काल सम्बन्धी अवस्थाएं एक दूसरेसे भिन्न हुआ करती हैं उन सबको एक कालमें जैसा का तैसा जो जान सक्ता है उसको ही केवलज्ञान कहते हैं। तथा यह केवलज्ञान वह ज्ञान है जिसको जैन शास्त्रमें प्रत्यक्ष, शुद्ध, स्वाभाविक तथा अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। जिसके प्रगट होनेके लिये व काम करनेके लिये किसी अन्यकी सहायताकी आवश्यक्ता नहीं है। न वह इन्द्रियोंके आश्रय है और न वह पदार्थोंके आलम्बनसे होता है, किन्तु हरएक आत्मामें शक्तिरूपसे विद्यमान है। जिसके ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय हो जाता है उसीके ही यह प्रकाशमान हो जाता है। जब प्रकाशित हो जाता है फिर कभी मिटता नहीं या कम होता नहीं। इसी ज्ञानके धारीको सर्वज्ञ कहते हैं। परमात्माकी बड़ाई इसी निर्मल ज्ञानसे है। इसी हीके कारणसे किसी वस्तुके जाननेकी चिंता नहीं होती है। इसीसे यही ज्ञान सदा निराकुल है। इसीसे पूर्ण आनन्दके भोगमें सहायी है। ऐसे केवलज्ञानकी प्रगटता जैनसिद्धांतमें प्रतिपादित स्याद्वाद नयके द्वारा आत्मा और अनात्माको समझकर भेदज्ञान प्राप्त करके और फिर लौकिक चमत्कारोंकी इच्छा या ख्याति, लाभ, पूजा आदिकी चाह छोडकर अपने शुद्धात्मामें एकाग्रता या स्वानुभव प्राप्त करनेसे होती है। इसलिये स्वहित वांछकको उचित है कि सब रागादि विकल्प जालोंको त्याग कर एक चित्त हो अपने आत्माका स्वाद लेकर परमानंदी होता हुआ तृप्ति पावे।

इस प्रकार केवलज्ञान ही सर्वज्ञपना है ऐसा कहते हुए गाथा एक, फिर सर्व पदार्थोंको जो नहीं जानता है वह एकको भी नहीं

जानता है ऐसा कहते हुए दूसरी, फिर जो एकको नहीं जानता है वह सबको नहीं जानता है ऐसा कहते हुए तीसरी, फिर क्रमसे होनेवाले ज्ञानसे सर्वज्ञ नहीं होता है ऐसा कहते हुए चौथी, तथा एक समयमें सर्वको जाननेसे सर्वज्ञ होता है ऐसा कहते हुए पाचमी इस तरह सातवें स्थलमें पाच गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका-आगे पहले जो यह कहाया कि पदार्थोंका ज्ञान होते हुए भी राग द्वेष मोहका अभाव होनेसे केवल ज्ञानियोंको बंध नहीं होता है उसी ही अर्थको दूसरी तरहसे दृढ़ करते हुए ज्ञान प्रपंचके अधिकारको संकोच करते हैं।

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि, उप्पज्जदि णेव तेसु अत्थेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबधगो तेण पण्णत्तो ॥ ५२

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेषु ।
जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्तः ॥ ५२ ॥

सामान्यार्थ-केवलज्ञानीकी आत्मा उन सर्व पदार्थोंको जानता हुआ भी उन पदार्थोंके स्वरूप न तो परिणमता है, न उनको गृहण करता है और न उन रूप पैदा होता है इसी लिये वह अबंधक कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(आदा) आत्मा अर्थात् मुक्त स्वरूप केवलज्ञानी या सिद्ध भगवानकी आत्मा (ते जाणण्णवि) उन ज्ञेय पदार्थोंको अपने आत्मासे भिन्न रूप जानते हुए भी (तेसु अत्थेसु) उन ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूपमें (ण वि परिण) न तो परिणमन करता है अर्थात् जैसे अपने आत्म प्रदे

गोंके द्वारा समतारससे पूर्णभावके साथ परिणमन कर रहा है वैसा ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूप नहीं परिणमन करता है अर्थात् आप अन्य पदार्थरूप नहीं हो जाता है। (ण गेण्हदि) और न उनको ग्रहण करता है अर्थात् जैसे वह आत्मा अनंत ज्ञान आदि अनंत चतुष्टय रूप अपने आत्माके स्वभावको आत्माके स्वभाव रूपसे ग्रहण करता है वैसे वह ज्ञेय पदार्थोंके स्वभावको ग्रहण नहीं करता है। (णेव उप्पज्जदि) और न वह उन रूप पैदा होता है अर्थात् जैसे वह विकार रहित परमानंदमई एक सुखरूप अपनी ही सिद्ध पर्याय करके उत्पन्न होता है वैसा वह शुद्ध आत्मा ज्ञेय पदार्थोंके स्वभावमें पैदा नहीं होता है। (तेण) इस कारणसे (अबधगो) कर्मोंका बंध नहीं करने वाला (पण्णत्तो) कहा गया है। भाव यह है कि रागद्वेष रहित ज्ञान बंधका कारण नहीं होता है, ऐसा जानकर शुद्ध आत्माकी प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका ऐसी जो मोक्ष उससे उल्टी जो नरक आदिके दुःखोंकी कारण कर्म बंधकी अवस्था, जिस बंध अवस्थाके कारण इंद्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले एक देश ज्ञान उन सबको त्यागकर सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान जो कर्मका बंधका कारण नहीं है उसका बीजभूत जो विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञान या स्वानुभव उसीमें ही भावना करनी योग्य है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने बताया है कि केवलज्ञान या शुद्ध ज्ञान या वीतराग ज्ञान बंधका कारण नहीं है। वास्तवमें ज्ञान कभी भी बंधका कारण नहीं होता है ...

ज्ञान हो या अवधि, मन पर्ययज्ञान हो या केवलज्ञान हो। ज्ञानके साथ जितना मोहनीय कर्मके उदयसे राग, द्वेष या मोहका अधिक या कम अश कलुषपन या विकार रहता है वही कार्माण वर्गणारूपी पुद्गलोंको कर्मबंधरूप परिणमावनेको निमित्त कारणरूप है। शरीरपर आई हुई रज शरीरपर चिकनाई होनेसे ही जमती है वैसे ही कर्मरज आत्मामें मोहकी चिकनाई होनेपर ही बंधको प्राप्त होती है।

वास्तवमें केवलज्ञानको रोकनेमें प्रबल कारण मोह ही है। यही उपयोगकी चंचलता रखता है। इसीके उद्वेगके कारण आत्मामें स्थिरता रूप चारित्र नहीं होता है जिस चारित्रके हुए बिना ज्ञानावरणीयका क्षय नहीं होता है। जिसके क्षयके बिना केवलज्ञानका प्रकाश नहीं पैदा होता है। आत्माका तथा अन्य किसी भी द्रव्यका स्वभाव पर द्रव्यरूप परिणमनेका नहीं है। हरएक द्रव्य अपने ही गुणोंमें परिणमन करता है-अपनी ही उत्तर अवस्थाको ग्रहण करता है और अपनी ही उत्तर पर्यायको उत्पन्न करता है। सुवर्णसे सुवर्णके कुंडल बनते हैं, लोहेसे लोहेके सांकल व कुंडे बनते हैं। सुवर्णसे लोहेकी और लोहेसे सुवर्णकी वस्तुएं नहीं बन सक्ती हैं। जब एक सुवर्णकी डलीसे एक मुद्रिका बनी तब सुवर्ण स्वयं मुद्रिका रूप परिणमा है, सुवर्णने स्वयं मुद्रिकाकी पर्यायोंको ग्रहण किया है तथा सुवर्ण स्वयं मुद्रिकाकी अवस्थामें पैदा हुआ है। यह दृष्टांत है। यही बात दृष्टांतमें लगाना चाहिये। स्वभावसे आत्मा दीपकके समान स्वपरका देखने जाननेवाला है। वह सदा देखता जानता रहता है अर्थात् वह सदा इस ज्ञप्तिक्रियाको करता रहता

है-रागद्वेष मोह करना उसका स्वभाव नहीं है। शुद्ध केवलज्ञान-में मोहनीयकर्मके उदयका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है इसीसे वह निर्विकार है और बंध रहित कहा गया है। जहां इंद्रिय तथा मनद्वारा अल्पज्ञान होता है वहां जितना अंश मोहका उदय होता है उतनी ही ज्ञानमें मलीनता होजाती है, मलीनता होनेका भाव यही लेना चाहिये कि आत्मामें एक चारित्र नामका गुण है उसका विभाव रूप परिणमन होता है। जब मोहका उदय नहीं होता है तब चारित्र गुणका स्वभाव परिणमन होता है। इस परिणमनकी जातिको दिखलाना बिलकुल दुष्कर कार्य है। पुद्गलमें कोई ऐसा दृष्टांत नहीं मिल सक्ता तो भी आचार्योंने ज्हां तहां यही दृष्टांत दिया है कि जैसे काले नीले, हरे, लाल डाकके निमित्तसे स्फटिक मणिकी स्वच्छतामें काला, नीला, हरा व लाल रंग रूप परिणमन होजाता है वैसे मोह कर्मके उदयसे आत्माका उपयोग या चारित्र गुण क्रोधादि भाव परिणत होजाता है। ऐसे परिण-मन होते हुए भी जैसे स्फटिक किसी वर्ण रूप होते हुए भी वह वर्णपना स्फटिकमें लाल कृष्ण आदि डाकके निमित्तसे झलक रहा है स्फटिकका स्वभाव नहीं है, ऐसे ही क्रोध आदि भावना क्रोधादिक कषायके निमित्तसे उपयोगमें झलक रहा है क्रोधादि आत्माका स्वभाव नहीं है। परके निमित्तसे होनेवाले भाव निमि-त्तके दूर होनेपर नहीं होते हैं। जबतक मोहके उदयका निमित्त है तबतक बन्द भी है। जहां निमित्त नहीं रहा वहां कर्मोंका बंध भी नहीं होता है इसीसे शुद्ध केवलज्ञानीको बंध रहित कहा गया है। तात्पर्य यह है कि हम अल्पज्ञानियोंको भी मोहके

दृष्टिके प्रतापसे जगतको उनके स्वरूप तथा परिवर्तन रूप देखते रहना चाहिये तथा कर्मोंके उदयमें जो दुःख सुखरूप अवस्था अपनी हो अथवा दूसरोंकी हो उनको भी, ज्ञाता दृष्टारूप ही देख जान लेना चाहिये उनमें अपनी समताका नाश न करना चाहिये। जो सम्यग्ज्ञानी तत्वविचारके अभ्याससे कर्मोंके उदयमें निष्कम्पित धर्मध्यान करते हैं, उनके पूर्वके उदयमें आए कर्म अधिक परिमाणमें झड जाते हैं और नवीन कर्म बहुत ही अल्प बंध होते हैं जिससे सम्यग्दृष्टियोंकी महिमाके कथनमें अबंध ही कहा है। समभाव सदा गुणकारी है। हमें शुद्धोपयोगरूप साम्य भावका सदा ही अनुभव करना चाहिये। यही बंधकी निर्जरा, संवर तथा मोक्षका साधक और केवलज्ञानका उत्पादक है। वास्तवमें ज्ञान ज्ञानरूप ही परिणमता है, अपनी ज्ञान परिणतिको ही ग्रहण करता है तथा ज्ञानभावरूप ही पैदा होता है। यह मोहका महात्म्य है जिससे हम अज्ञानी जानते हुए भी किसीसे रागकर उसको ग्रहण करते व किसीसे द्वेषकर उससे घृणा करते व उसे त्याग करते हैं। ज्ञानमें न ग्रहण है न त्याग है। मोह प्रपंचके त्यागका उपाय आत्मानुभव है यही कर्तव्य है। इस तरह रागद्वेष मोह रहित होनेसे केवलज्ञानियोंके बंध नहीं होता है ऐसा कथन करते हुए ज्ञान प्रपंचकी समाप्तिकी मुख्यता करके एक सूत्र द्वारा अठवां स्थल पूर्ण हुआ ॥ ५१ ॥

उत्थानिका–आगे ज्ञान प्रपंचके व्याख्यानके पीछे ज्ञानके आधार सर्वज्ञ भगवानको नमस्कार करते हैं।

तस्स णमाइ लोगो, देवासुरमणुअरायसंबंधो।
भत्तो करेदि णिच्च, उवजुत्तो तं तहावि अहं ॥२॥

तस्य नमस्या लोक देवासुरमणुष्यराजसम्बन्ध ।
भक्त करोति नित्य उपयुक्त त तथा हि अहं ॥५२॥

सामान्यार्थ-जैसे देव, असुर, मनुष्योंके राजाओंसे संबंधित यह भक्त जगत उद्यमवत होकर उस सर्वज्ञ भगवानको नित्य नमस्कार करता है वैसे ही मैं उनको नमस्कार करता हूं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-जैसे (देवासुरमणुअ राय सम्बंधो) स्वर्गवासी, भवनत्रिक तथा मनुष्योंके इन्द्रोंकर सहित (भत्तो) भक्तवत (उवजुत्तो) तथा उद्यमवत (लोगो) यह लोक (तस्स णमाइ) उस सर्वज्ञको नमस्कार (णिच्च) सदा (करेदि) करता है (तहावि तैसे ही (अहं) मैं ग्रन्थकर्त्ता श्रीकुंदकुंदाचार्य (तं) उस सर्वज्ञको नमस्कार करता हूं। भाव यह है कि जैसे देवेन्द्र व चक्रवर्ती आदि अनन्त और अक्षय सुख आदि गुणोंके स्थान अर्हन्तके स्वरूपको नमस्कार करते हैं तैसे मैं भी उस पदका अभिलाषी होकर परम भक्तिसे नमस्कार करता हूं।

भावार्थ-हम अल्पज्ञानी बंध करनेवाले जीवोंके लिये वही आत्मा आदर्श हो सकता है जो सर्वज्ञ हो और वीतरागताके कारण अबंधक हो उनको अर्हन्त तथा सिद्ध कहते हैं। उनहीमें भक्ति व उनकी पूजा व उनहीको नमस्कार। जगतमें जो बड़े २ पुरुष हैं जैसे इन्द्र चक्रवर्ती आदि वे बड़े भावसे व अनेक प्रकार उद्यम करके करते रहते हैं-इनकी साक्षात् पूजा करनेको विदेह

दिय) अतींद्रिय है (च) तथा (मुत्त) जो मूर्तीक है सो (इंद्रिय) इंद्रिय जन्य (अत्थि) है (तधा च सोक्ख) तैसे ही अर्थात् ज्ञानकी तरह अमूर्तीक सुख अतिन्द्रिय है तथा मूर्तीक सुख इंद्रिय जन्य है (तेसु ज पर) इन ज्ञान और सुखोंमें जो उत्कृष्ट अतींद्रिय हैं (त च णेय) उनको ही उपादेय है ऐसा मानना चाहिये। इसका विस्तार यह है कि अमूर्तीक, क्षायिक, अतींद्रिय, चिदानन्दरूप स्वरूप शुद्धात्मकी शक्तियोंसे उत्पन्न होनेवाला अतींद्रिय ज्ञान और सुख आत्माके ही आधीन होनेसे अविनाशी है इससे उपादेय है तथा पूर्वमें कहे हुए अमूर्त शुद्ध आत्माकी शक्तिसे विलक्षण जो क्षायोपशमिक इन्द्रियोंकी शक्तियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान और सुख है वे पराधीन होनेसे विनाशवान हैं इस लिये हेय हैं ऐसा तात्पर्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने इस प्रकरणका प्रारम्भ करते हुए बताया है कि सच्चा अविनाशी तथा स्वाधीन सुख अतींद्रिय सुख है जो आत्माका ही स्वभाव है और आत्मामें आप ही अपनी स्वसुखतासे अनुभवमें आता है। यही सुख अमूर्तीक है क्योंकि अमूर्तीक आत्माका यह स्वभाव है। शुद्ध आत्मामें इस सुखका निरंतर विकाश रहता है। जिस तरह केवलज्ञान अतीन्द्रिय तथा अमूर्तीक होनेसे आत्माका स्वभाव आत्माके आधीन है ऐसे ही अतीन्द्रिय सुखको जानना चाहिये। जैसे केवलज्ञानकी महिमा पहले कह चुके हैं वैसे अब अतीन्द्रिय आत्मसुखकी महिमाको जानना चाहिये क्योंकि ये ज्ञान और सुख दोनों निज आत्माकी सम्पत्ति है। इन पर अपना ही स्वत्व है।

इनकी प्रगटताके लिये किसी भी पर मूर्तीक पुद्गलकी सहायताकी आवश्यक्ता नहीं है इसीसे ये दोनों अमूर्तीक और इंद्रियोंकी आधीनतासे रहित हैं। इनके विपरीत जो ज्ञान क्षयोपशमिक है वह इन्द्रियों तथा मनके आलम्बनसे पैदा होता है सो मूर्तीक है क्योंकि अशुद्ध है-कर्मसहित आत्मामें होता है। कर्म रहित आत्मामें यह इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता है-यह अमूर्तीक आत्माका स्वभाव नहीं है। कर्मसहित संसारी मूर्तीकपना झलकने वाला आत्मा ही इन्द्रियजन्य ज्ञानको रखता है-तैसे ही जो इंद्रिय जनित सुख है वह भी मूर्तीक है। क्योंकि वह सुख मोह भावका भोगमात्र है जो मोहभाव मूर्तीक मोहनीय कर्मके उदयसे हुआ है इसलिये मूर्तीक है तथा अमूर्तीक शुद्ध आत्माका स्वभाव नहीं है। क्योंकि यह इन्द्रियजनित ज्ञान और सुख दोनों इंद्रियोंके बलके आधीन, बाहरी पदार्थोंके मिलनेके आधीन तथा पुण्य कर्मके उदयके आधीन हैं इसलिये पराधीन हैं विनाशवान हैं इसी लिये त्यागने योग्य हैं। ये इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुख संसारके बढ़ानेवाले हैं। जबकि अतींद्रिय ज्ञान और सुख मोक्ष स्वरूप हैं, अविनाशी हैं तथा परमशांति पैदा करनेवाले हैं-ऐसा जानकर अतींद्रिय सुखकी ही भावना करनी योग्य है। इस प्रकार अधिकारकी गाथासे पहला स्थल गया ॥५३॥

उत्थानिका-आगे उसी पूर्वमें कहे हुए अतींद्रिय ज्ञानका विशेष वर्णन करते हैं—

जं पेच्छदो अमुत्तं, मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सकलं स[illegible]दरं, तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥५४॥

यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियं च प्रच्छन्नम्।
सकलं स्वकं च इतरत् तद् ज्ञानं भवति प्रत्यक्षम् ॥५४॥

सामान्यार्थ–देखनेवाले पुरुषका जो ज्ञान अमूर्तिक द्रव्यको, मूर्तीक पदार्थोंमें इन्द्रियोंके अगोचर सूक्ष्म पदार्थको तथा गुप्त पदार्थको सम्पूर्ण निज और पर ज्ञेयोंको जो जानता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(पेच्छदो) अच्छी तरह देखनेवाले केवलज्ञानी पुरुषका (जं) जो अतीन्द्रिय केवलज्ञान है सो (अमुत्तं) अमूर्तीकको अर्थात् अतीन्द्रिय तथा राग रहित सदा आनन्दमई सुखस्वभावके धारी परमात्मद्रव्यको आदि लेकर सर्व अमूर्तीक द्रव्य समूहको, (मुत्तेसु) मूर्तीक पुद्गल द्रव्योंमें (अदिंदियं) अतीन्द्रिय इन्द्रियोंके अगोचर परमाणु आदिकोंको (च पच्छण्णं) तथा गुप्तको अर्थात् द्रव्यापेक्षा कालाणु आदि अप्रगट तथा दूरवर्ती द्रव्योंको, क्षेत्र अपेक्षा गुप्त अलोकाकाशके प्रदेशादिकोंको काल अपेक्षा प्रच्छन्न विकार रहित परमानन्दमई एक सुखके आस्वादनकी परिणतिरूप परमात्माके वर्तमान समय सम्बन्धी परिणामोंको आदि लेकर सर्व द्रव्योंकी वर्तमान समयकी पर्यायोंको, तथा भावकी अपेक्षा उसही परमात्माकी सिद्धरूप शुद्ध व्यञ्जन पर्याय तथा अन्य द्रव्योंकी जो यथासंभव व्यञ्जन पर्याय उनमें अंतर्भूत अर्थात् मग्न जो प्रति समयमें वर्तन करनेवाली छः प्रकार वृद्धि हानि स्वरूप अर्थ पर्याय इन सब प्रच्छन्न द्रव्यक्षेत्रकाल भावोंको, और (सगं च इदरं) जो कुछ भी यथासंभव अपना द्रव्य है तथा परद्रव्य सम्बन्धी या दोनों सम्बन्धी है (सयलं)

इन सर्व ज्ञेय पदार्थोंको जानता है (त णाण) वह ज्ञान (पच्चक्ख) प्रत्यक्ष (हवदि) होता है। यहा शिष्यने प्रश्न किया, कि ज्ञान प्रपचका अधिकार तो पहले ही होचुका। अब इस सुख प्रपचके अधिकारमें तो सुखका ही कथन करना योग्य है। इसका समाधान यह है कि जो अतीन्द्रियज्ञान पहले कहा गया है वह ही अभेद नयसे सुख है इनकी सूचनाके लिये अथवा ज्ञानकी मुख्यतासे सुख है क्योंकि इस ज्ञानमें हेय उपादेयकी चिंता नहीं है इसके बतानेके लिये कहा है। इसतरह अतीन्द्रिय ज्ञान ही ग्रहण करने योग्य है ऐसा कहते हुए एक गाथा द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने अनन्त अतीन्द्रिय सुखके लिये मुख्यतासे कारण रूप तथा एक समयमें तिष्ठनेवाले प्रत्यक्ष केवलज्ञानका वर्णन इसी लिये किया है कि उस स्वाधीन ज्ञानके होते हुए किसी जानने योग्य पदार्थके जाननेकी चिंता नहीं होती है। न वहां किसीको ग्रहण या त्यागका विकल्प होता है। जहां चिंता तथा विकल्प है वहा निराकुलता नहीं होती है। जहा निश्चित व निर्विकल्प अवस्था रहती है वहा कोई प्रकार आकुलता नहीं होती है। अतीन्द्रिय आन द भोगनेमें इस निराकुलताकी आवश्यक्ता है। यह केवलज्ञान अपने आत्माके तथा पर आत्माओंके तथा अन्य सर्व द्रव्योंके तीन कालवर्ती द्रव्य क्षेत्र काल भावोंको जानता है। जो ज्ञान पाच इन्द्रिय तथा मनके द्वारा होना असंभव है वह सर्व ज्ञान केवलज्ञानीको प्रत्यक्ष होता है वह मूर्त और अमूर्त सर्व द्रव्योंको जानता है तथा इन्द्रियोंके

परन्तु यह यथार्थ औषधि नहीं है यह मिथ्या औषधि है यथा ज्यों २ ऐसी दवाकी जायगी विषयचाहकी दाह बढ़ती जायगी जैसा एक कविने कहा है " मर्ज बढ़ता गया ज्यों २ दवा की।" इसलिये संसारी जीवोंको वास्तविक सच्चे सुखका लाभ नहीं होता है।

भावार्थ-आगे इस गाथामें आचार्य इंद्रियजनित सुखका स्वरूप कहते हुए यह बताते हैं कि यह सुख मात्र क्षणिक रोगका उपाय है जो रोगको खोता नहीं किन्तु उस रोगको बढ़ा देता है। बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा तथा इन्द्र जिनके पास पांचों इंद्रियोंके मनोवांछित भोग होते हैं वे उन भोगोंके भोगनेमें इसी लिये वारवार लग जाते हैं कि उनको इन्द्रियोंके द्वारा जो बाहरी पदार्थोंका ज्ञान होता है उनमें वे रागद्वेष कर लेते हैं। अर्थात् उनमें जो पदार्थ इष्ट मानते हैं उनके भोगनेकी चाहरूपी दाह होती है। उस दाहसे जो पीड़ा होती है उसको सह नहीं सक्ते और घबड़ाकर इन्द्रियोंके भोगोंमें रमने लगते हैं। यद्यपि रमना उस रोगकी शांतिका उपाय नहीं है तथापि अज्ञानसे जिस उपायसे उस रोगको मेटनेकी क्रिया यह संसारी प्राणी करता रहा है उसी उपायको यह भी पूर्व अभ्याससे करने लग जाते हैं। बड़े २ पुरुष भी जिनको मति, श्रुत, अवधि तीनज्ञान हैं व जो सम्यग्दृष्टी भी हैं वे भी इंद्रियोंकी चाहकी पीडासे व्याकुलित होकर यह जानते हुए भी कि इन विषयभोगोंसे पीड़ा शांत नहीं होगी, चारित्र मोहके तीव्र उदयसे तथा पूर्व अभ्यासके कारण पुन पुन पांचों इंद्रियोंके भोगोंमें लीन होजाते हैं। तथापि

परन्तु यह यथार्थ औषधि नहीं है यह मिथ्या औषधि है क्योंकि ज्यों २ ऐसी दवाकी जायगी विषयचाहकी दाह बढ़ती जायगी जैसा एक कविने कहा है " मर्ज बढ़ता गया ज्यों २ दवा की " इसलिये संसारी जीवोंको वास्तविक सच्चे सुखका लाभ नहीं होता है।

भावार्थ-आगे इस गाथामें आचार्य इंद्रियजनित सुखका स्वरूप कहते हुए यह बताते हैं कि यह सुख मात्र क्षणिक रोगका उपाय है जो रोगको खोता नहीं, किन्तु उस रोगको बढ़ा देता है। बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा तथा इन्द्र जिनके पास पांचों इंद्रियोंके मनोवांछित भोग होते हैं वे उन भोगोंके भोगनेमें इसी लिये वारवार लग जाते हैं कि उनको इन्द्रियोंके द्वारा जो बाहरी पदार्थोंका ज्ञान होता है उसमें वे रागद्वेष कर लेते हैं। अर्थात् उनमें जो पदार्थ इष्ट मानते हैं उनके भोगोंकी चाहरूपी दाह पैदा होती है। उस दाहसे जो पीड़ा होती है उसको सह नहीं सके और घबड़ाकर इंद्रियोंके भोगोंमें रमने लगते हैं। यद्यपि विषयोंमें रमना उस रोगकी शांतिका उपाय नहीं है तथापि अज्ञानसे जिस उपायसे उस रोगको मेटनेकी क्रिया यह संसारी प्राणी करता रहा है उसी उपायको यह भी पूर्व अभ्याससे करने लग जाते हैं। बड़े २ पुरुष भी जिनको मति, श्रुत, अवधि तीनिज्ञान हैं व जो सम्यग्दृष्टी भी हैं वे भी इंद्रियोंकी चाहकी पीड़ासे आकुलित होकर यह जानते हुए भी कि इन विषयभोगोंसे पीड़ा शांत न होगी, चारित्र मोहके तीव्र उदयसे तथा पूर्व अभ्यासके संस्कारसे पुन पुन पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमें लीन होजाते हैं। तथापि

तृप्ति न पाते हुए व अपने ज्ञानके द्वारा पदार्थके स्वरूप को विचार
हुए विषयभोगोंसे त्यागबुद्धि करते हैं। फिर भी विषयोंमें
जाते हैं। फिर ज्ञानबलसे विचारकर त्याग बुद्धि करते हैं। इ
तरह वारवार होते रहनेसे जब भेदज्ञानके द्वारा चारित्रमोहका ब
घट जाता है तब वैराग्यवान हो भोग त्याग योग धारण कर
आत्मरसका पान करते हैं। बड़े बड़े पुरुषोंको भी मनोज्ञ साम
की प्राप्ति होते हुए भी इन विषयभोगोंसे कभी तृप्ति नहीं होत
है, तो फिर जो अल्प पुण्यवान हैं जिनको इष्ट सामग्रीका मि
लना दुर्लभ है उनकी पीड़ाका नाश किस तरह हो समव है
कभी नहीं होसक्ता। जो मिथ्यादृष्टी बड़े मनुष्य तथा देव हैं
तो सम्यग्ज्ञानके विना सच्चे सुखको न समझते हुए इंद्रियद्वा
ज्ञान तथा सुखको ही ग्रहण करने योग्य मानते हैं और इ
बुद्धिसे रात दिन विषयोंकी चाहकी दाहसे जलते रहते हैं। पु
के उदयसे इच्छित पदार्थ मिलनेपर उनमें तल्लीन होजाते हैं
यदि इच्छित पदार्थ नहीं मिलते हैं तो उनके उद्यम करनेमें नि
तर आकुलित रहते हैं। जो अल्प पुण्यवान व पापी मनुष्य
हीन देव हैं वे स्वयं इच्छित पदार्थोंको न पाते हुए उनके यथ
शक्ति उद्यम करनेमें तथा दूसरे पुण्यवानोंको देखकर ईर्षा करने
लगे रहते हैं जिससे महा मानसिक वेदना उठाते हैं। पापी मनु
ष्य यदि कभी कोई इष्ट पदार्थका समागम भी पालेते हैं तो उन
उस पदार्थसे शीघ्र ही वियोग होजाता है व संयोग रहनेपर
वे उनके भोग उपभोग करनेमें अशक्य होजाते हैं। इस कार
दुःखी रहते हैं। यहां गाथामें नारकी और तिर्यंचोंका नाम

लिये नहीं लिया कि उनको तो सदा ही इष्ट पदार्थोंका वियोग रहता है यद्यपि तिर्यंच कुछ इच्छित विषय भी पाते हैं, परन्तु वे बहुत कम ऐसे तिर्यंच हैं। अधिक तिर्यंच जीव तो क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, भय, मारण, पीडन, वैर, द्वेष तथा तीव्र विषय लोलुपता आदि दुःखोंसे सतापित रहते हैं। नारकीजीवोंको इष्ट पदार्थ मिलते ही नहीं—वे विचारे घोर भूख प्यास शीत उष्णकी वेदनासे दुःखित रहते हैं। मनुष्योंकी अपेक्षा कुछ अधिक रमणीक विषय प्राप्त करनेवाले असुर अर्थात् भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषी देव होते हैं उनसे अधिक मनोज्ञ विषय पानेवाले कल्पवासी देव होते हैं। ऐसे२ प्राणी भी जब इंद्रियोंकी तृष्णासे पीड़ित रहते हुए दुःख नहीं सहसकनेसे विषयोंमें रमण करते हैं तब क्षुद्र प्राणियोंकी तो बात ही क्या है? प्रयोजन आचार्यके कहनेका यही है कि मोहकर्मके प्रेरे हुए ये ससारी प्राणी विषयचाहकी दाहमें मूर्छित होते हुए पुन पुन मृगकी तरह भाडलीमें जल जान दौड़ दौड़कर कष्ट उठाते हैं परन्तु अपनी विषयवासनाके कष्टको शात नहीं कर सक्ते हैं। यह सब अज्ञान और मोहका महात्म्य है। ऐसा जान केवलज्ञानकी प्राप्तिका उपाय करना योग्य है जिससे यह अनादि रोगकी जड़ कट जावे और आत्मा सदाके लिये सुखी हो जावे। यहा वृत्तिकारने जो गर्म लोहेका दृष्टात दिया है—उसका मतलब यह है कि जैसे गर्म लोहा चारोंतरफसे पानीको खींच लेता है वैसे चाहकी दाहसे त्रासित हुआ मनुष्य विषयभोगोंको खींचता है॥ ६९॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जब तक इंद्रियोंके द्वारा यह प्राणी विषयोंके व्यापार करता रहता है तब तक इनको दुःख ही है।

जेसिं विसयेसु रदी, तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जदि तं ण हि सब्भावं, वावारो णत्थि विसयत्थं।६६।

यषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावम्।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥६६॥

सामान्यार्थ-जिन जीवोंकी विषयोंमें प्रीति है उनको स्वाभाविक दुःख जानो। यदि वह इंद्रियजन्य दुःख स्वभावसे न होवे तो विषयोंके सेवनके लिये व्यापार न होवे।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जेसिं विसयेसु रदी) जिन जीवोंकी विषयरहित अतींद्रिय परमात्म स्वरूपसे विपरीत इंद्रियोंके विषयोंमें प्रीति होती है (तेसिं सब्भाव दुक्ख वियाण) उनको स्वाभाविक दुःख जानो अर्थात् उन बहिर्मुख मिथ्यादृष्टी जीवोंको अपने शुद्ध आत्मद्रव्यके अनुभवसे उत्पन्न उपाधि रहित निश्चय सुखसे विपरीत स्वभावसे ही दुःख होता है ऐसा जानो (जदि तं सब्भाव ण हि) यदि वह दुःख स्वभावसे निश्चयकर न होवे तो (विसयत्थ वावारो णत्थि) विषयोंके लिये व्यापार न होवे। जैसे रोगसे पीड़ित होनेवालोंके ही लिये औषधिका सेवन होता है वैसे ही इंद्रियोंके विषयोंके सेवनेके लिये ही व्यापार दिखाई देता है। इसीसे ही यह जाना जाता है कि दुःख है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह दिखलाया है कि

जिन जीवोंकी रुचि इंद्रियोंके विषयभोगोंमें होती है उनको मोह कर्मजनित अतरंगमें पीड़ा होती है। यदि पीड़ा न होवे तो उसके दूर करनेका उपाय न किया जावे। वास्तवमें यही बात है कि जब जब जिस इंद्रियकी चाहकी दाह उपजती है उस समय यह प्राणी घबड़ाता है और उस दाहकी पीड़ाको न सह सकनेके कारण इंद्रियोंके पदार्थोंके भोगमें दौड़ता है। एक पतंगा अपने नेत्र इंद्रिय सम्बन्धी दाहकी शांतिके लिये ही आकर अग्निकी लौमें पड जल जाता है। जैसे रोगी मनुष्य घबड़ाकर रोगकी पीड़ा न सह सकनेके कारण जो औषधि समझमें आती है उस औषधिका सेवन कर लेता है-वर्तमानकी पीड़ा मिट जावे यही अधिक चाहना रहती है। कषायके वश व अनादि संस्कारके वश यह प्राणी उस पीड़ाको मेटनेके लिये विषयभोग करता है जिससे यद्यपि वर्तमानमें पीड़ाको मेट देता है परन्तु आगामी पीड़ाको और बढ़ा देता है। विषयसेवन करना विषय चाहरूपी रोगके मेटनेकी सच्ची औषधि नहीं है तत्काल कुछ शांति होती है परन्तु रोग बढ जाता है। यही कारण है कि जो कोई भी प्राणी सैकड़ों हजारों वर्षों तक लगातार इंद्रियोंके भोगोंको भोगा करता है परन्तु किसी भी इन्द्रियकी चाहको शान्त नहीं कर सक्ता। इसीसे यह इस रोगकी शांतिका उपाय नहीं है। शांतिका उपाय उस रोगकी जड़को मिटा देना है अर्थात् उस कषायका दमन करना व नाश करना है जिसके उदयसे विषयकी वेदना पैदा होती है। जिसका नाश सम्यक्की होकर अतरंगमें अपने आत्माका दृढ़ श्रद्धान प्राप्तकर उस आत्माके स्वभावका भेद ज्ञान पूर्वक मनन करनेके उपायसे

ही धीरे धीरे होता है। विषयभोगसे कभी भी यह रोग मिटता नहीं। स्वामी समंतभद्राचार्यने स्वयम्भूस्तोत्रमें बहुत ही यथार्थ वर्णन किया है जैसे –

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं, तापस्तदायासयतीत्यवादीः॥१३

भावार्थ–इन्द्रियोंका सुख बिजलीके चमत्कारके समान अथिर है। शीघ्र ही होकर नष्ट होजाता है तथा इस सुखसे तृष्णारूपी रोग मिटनेकी अपेक्षा और अधिक बढ़ जाता है। मात्र इतना ही बुरा अधिक होता है लाभ कुछ नहीं। तृष्णाकी वृद्धि निरंतर प्राणीको संतापित या दाहयुक्त करती रहती है। वह चाहका दाहरूपी ताप जगतके प्राणियोंको क्लेशित करता है। वे प्राणी उस पीडाके सहनेको असमर्थ होकर नानाप्रकार उद्यम करके धनका संग्रह करते हैं फिर धन लाकर इष्ट विषयोंकी सामग्री लानेकी चेष्टा करते हैं और भोगते है फिर भी शांति नहीं पाते हैं, तृष्णाको बढ़ा लेते हैं। इस कारण इंद्रियसुखका भोग अधिक आकुलताका कारण है। तब इस रोगकी शांतिका उपाय अपने आत्मामें तिष्ठता है अर्थात् आत्मानुभव करता है ऐसा ही स्वामीने उसी स्तोत्रमें कहा है –

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोनुषङ्गान्न च तापशांतिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः ।३१।

भावार्थ–श्री सुपार्श्वनाथ भगवानने अच्छीतरह बता दिया है कि जीवोंका प्रयोजन क्षणभंगुर भोगोंसे सिद्ध नहीं होगा

किन्तु अविनाशी रूपसे अपने आत्मामें तिष्ठनेसे होगा। क्योंकि भोगोंसे तृष्णाकी वृद्धि हो जाती है, ताप मिटता नहीं है। प्रयोजन यह है कि इन्द्रियसुख सच्चा दु खरूप ही है। खाज खुजानेसे खाजका रोग बढ़ता ही है। वैसे ही इन्द्रियोंके भोगोंसे चाहनाका रोग बढ़ता ही है–इसका उपाय आत्मानुभव है। आत्मानंदके द्वारा जो शांतरस व्यापता है वही रस चाहकी दाहको मेट देता है। और धरे२ एसा मेट देता है कि फिर कभी चाहकी दाहका रोग पैदा नहीं होता है ऐसा ज्ञान साम्यभावरूप शुद्धोपयोगका ही मनन करना योग्य है।

इस प्रकार निश्चयसे इन्द्रियजनित सुख दु खरूप ही है ऐसा स्थापन करते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ११ ॥

उत्थानिका–आगे यह प्रगट करते हैं कि मुक्त आत्माओंके शरीर न होते हुए भी सुख रहता है इस कारण शरीर सुखका कारण नहीं है।

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो॥६७

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शैः समाश्रितान् स्वभावेन।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सु खं न भवति देह ॥ ६७ ॥

सामान्यार्थ–यह आत्मा स्पर्श आदि इन्द्रियोंके आश्रयसे ग्रहण करने योग्य मनोज्ञ विषयभोगोंको पाकर या ग्रहणकर अपने अशुद्ध स्वभावसे परिणमन करता हुआ स्वयं ही सुखरूप हो जाता है। शरीर सुखरूप नहीं है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(अप्पा) य
आत्मा (फासेहिं) स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे रहित शुद्ध
विलक्षण स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके द्वारा (समस्सिदे) भ
ग्रहण करने योग्य (इट्ठे विसये) अपनेको इष्ट ऐसे विषय
(पप्पा) पाकरके या ग्रहण करके (सहावेण परिणामम
अनन्त सुखका उपादान कारण जो शुद्ध आत्माका स्वभाव
विरुद्ध अशुद्ध सुखका उपादान कारण जो अशुद्ध आत्मस्व
उससे परिणमन करता हुआ (सयमेव) स्वय ही (सुह) इन्द्रि
सुखरूप हो जाता है या परिणमन कर जाता है, तथा (देहो
इवदि) शरीर अचेतन होनेसे सुखरूप नहीं होता है। यहां य
अर्थ है कि कर्मोंके आवरणसे मैले ससारी जीवोंके जो इन्द्रियसुख
होता है वहा भी जीव ही उपादान कारण है शरीर उपादान
कारण नहीं है। जो देह रहित व कर्मबध रहित मुक्त जीव हैं
उनको जो अनन्त अतीन्द्रियसुख है वहा तो विशेष करके आत्मा
ही कारण है।

भावार्थ-यहा आचार्य कहते हैं कि शरीर व उसके
आश्रित जो जडरूप द्रव्यइन्द्रियें तथा बाहरी पदार्थ हैं इन किसीमें
भी सुख नहीं है। इन्द्रियसुख भी ससारी आत्माके अशुद्ध
भावोंसे ही अनुभवमें आता है। यह ससारी जीव पहले
इन्द्रियसुख भोगनेकी तृष्णा करता है-फिर उस चाहकी दाहको
न सह सकनेके कारण जिनकी तरफ यह कल्पना उठती है कि
अमुक पदार्थको ग्रहण करनेसे सुख भासेगा उस इष्ट पदार्थको
इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी या भोगनेकी चेष्टा करता है-यदि

वे भोगनेमें नहीं आए तो आकुलता हीमें फसा रहता है। यदि कदाचित् वे ग्रहणमें आगए तो अपने रागभावके कारण यह बुद्धि करलेता है कि मैं सुखी भया-इस कारण इन्द्रियोंके द्वारा भी जो सुख होता है वह आत्मामें ही होता है। इस सुखको यदि निश्चय सुख गुणका विपरीत परिणमन कहें तौभी कोई दोष नहीं है। जैसे मिथ्यादृष्टीके सम्यक्त भावका मिथ्यात्वरूप परिणमन होता है इसलिये श्रद्धान तो होता है परन्तु विपरीत पदार्थोंमें होता है। तब ही उसको मिथ्या या झूठा श्रद्धान कहते हैं। इसी तरह स्वात्मानुभवसे शून्य रागभावमें परिणमन करते हुए जीवके जो परके द्वारा सुख अनुभवमें आता है वह सुख गुणका विपरीत परिणमन है। अर्थात् अशुद्ध रागी आत्मामें अशुद्ध राग रूप मलीन सुखका स्वाद आता है। इस अशुद्ध सुखके स्वाद आनेमें कारण रागरूप कषायका उदय है। वास्तवमें मोही जीव जिस समय किसी पदार्थका इन्द्रिय द्वारा भोग करता है उस समय वह रागरूप परिणमन कर जाता है अर्थात् वह रागभावका भोग करता है। वह रागभाव चारित्रगुणका विपरीत परिणमन है-उसीके साथ साथ सुख गुणका भी विपरीत स्वाद आता है। वास्तवमें स्वाद उसी समय आता है जब उपयोग कुछ काल विश्राम पाता है इन्द्रियोंके द्वारा भोग करनेमें उपयोग अवश्य कुछ कालके लिये किसी मनोज्ञ विषयके आश्रित रागभावमें ठहर जाता है तब आत्माको सुख गुणकी अशुद्धताका स्वाद आता है। यदि उपयोग राग संयुक्त रहता हुआ अति चंचल होता है ठहरता नहीं तो उस चंचल आत्माके भीतर रागभाव होते हुए भी अशुद्ध

ये सुखदाई तथा दुःखदाई भासते हैं। यही स्त्री जब हमारी इच्छानुसार वर्तती है तब इष्ट व सुखदाई भासती है, जब इच्छा विरुद्ध वर्तन करती है तब अनिष्ट या दुखदाई भासती है। आज्ञाकारी पुत्र इष्ट व दुर्गुणी पुत्र दुखदायी भासता है इत्यादि। ऐसा जानकर इन्द्रिय सुखका भी उपादान कारण हमारा ही अशुद्ध आत्मा है, पर पदार्थ निमित्त मात्र हैं ऐसा जानना, क्योंकि सुख आत्माका गुण है इसीसे शरीर रहित सिद्धोंके अनंत अतींद्रिय आनन्द सदा विद्यमान रहता है ॥ ६७ ॥

उत्थानिका-अब आगे यहां कोई शंका करता है कि मनुष्यका शरीर जिसके नहीं है किन्तु देवका दिव्य शरीर जिसको प्राप्त है वह शरीर तो उसके लिये अवश्य सुखका कारण होगा। आचार्य इस शंकाको हटाते हुए समाधान करते हैं—

एगंतेण हि देहो, सुहं ण देहिस्स कुणइ सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं, दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६८॥

एकान्तेन हि देहः सुखं न देहिनः करोति स्वर्गे वा।
विषयवशात् तु सौख्यं दुःखं वा भवति स्वयमात्मा ॥ ६८ ॥

सामान्यार्थ-सब तरहसे यह निश्चय है कि संसारी प्राणीको यह शरीर स्वर्गमें भी सुख नहीं करता है। यह आत्मा आप ही इन्द्रियोंके विषयोंके आधीन होकर सुख या दुःखरूप होजाता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(एगंतेण हि) सब तरह निश्चयकर यह प्रगट है कि (देहिस्स) शरीरधारी संसारी

प्राणीको (देहो) यह शरीर (सग्गे वा) स्वर्गमें भी (सुह ण कुणई) सुख नहीं करता है। मनुष्योंकी मनुष्य देह तो सुखका कारण नहीं है यह बात दूर ही तिष्ठे। स्वर्गमें भी जो देवोंका मनोज्ञ वैक्रयिक देह है वह भी विषयवासनाके उपाय बिना सुख नहीं करता है। (आदा) यह आत्मा (सय) अपने आप ही (विसयवसेण) विषयोंके वशसे अर्थात् निश्चयसे विषयोंसे रहित अमूर्त स्वाभाविक सदा आनन्दमई एक स्वभावरूप होनेपर भी व्यवहारसे अनादि कर्मके बंधके वशसे विषयोंके भोगोंके आधीन होनेसे (सोक्खं वा दुक्खं हवदि) सुख व दुःखरूप परिणमः करके सुख या दुःखरूप होजाता है। शरीर सुख या दुःखरूप नहीं होता है यह अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें भी आचार्यने शरीरको जड़रूप होनेसे शरीर सुख या दुःखरूप होता है इस बातका निषेध किया है तथा बतलाया है कि देवोंके यद्यपि धातु उपधातु रहित नानारूपोंको बदलनेवाला वैक्रियिक परम क्रांतिमय नित्य भूखप्यास निद्राकी बाधा रहित शरीर होता है तथापि देवोंके सुख या दुःख उनकी अनादि कालसे चली आई हुई विषयवासनाके आधीनपनेसे ही होता है। इंद्रियोंके विषयभोगनेसे सुख होगा इस वासनासे कषायके उदयसे भोगकी तृष्णाको शमन करनेके लिये असमर्थ होकर मनोज्ञ देवी आदिकोंमें वे देव रमण करते हैं। उनके नृत्य गानादि सुनते हैं जिससे क्षणभरके लिये आकुलता मेटनेसे सुख कल्पना कर लेते हैं। यदि किसी देवीका मरण होजाता है तो उस देवीको न पाकर उसके द्वारा भोग न कर सकनेके कारण

वे देव दु खी होकर दु खका अनुभव करते हैं। शरीर तो दोनों अवस्थाओंमें एकसा रहता है तथापि यह आत्मा अपनी ही कषायकी परिणतिमें परिणमनकर सुखी या दु खी होजाता है। शरीर तो एक निमित्त कारण है–समर्थ कारण नहीं है। बलवान कारण कषायकी तीव्रता है। सांसारिक सुख या दु खके होनेमें रागद्वेषकी तीव्रता कारण है। जब राग अति तीव्र होता है तब सांसारिक सुख और जब द्वेष अति तीव्र होता है तब सांसारिक दु ख अनुभवमें आता है जब किसी इष्ट विषयके मिलनेमें असफलता होती है तब उस वियोगसे द्वेषभाव होता है कि यह वियोग हटे जिससे परिणाम बहुत ही संक्लेशरूप होजाते हैं उसी समय अरति शोक, नो कषायका तीव्र उदय होता जाता है बस यह प्राणी दु खका अनुभव करता है जब किसी अनिष्ट पदार्थसे द्वेषभाव होता है तब उसका संयोग [illegible] यह भाव होता है तब ही भय तथा जुगुप्सा नोकषायका तीव्र उदय होता है इसी समय यह कषायवान जीव दु खका अनुभव करता है।

वीतराग केवली भगवानके कोई कषाय नहीं है इसीसे पर औदारिक शरीर होते हुए भी न कोई सांसारिक सुख है न दु ख है। यह कषायोंके उदयका कारण है जो चारित्र और सुख गुणको विपरीत परिणमा देता है। जब रागकी तीव्रता होती है तब सुख गुणका विपरीत परिणमन इंद्रिय सुखरूप और जब द्वेषकी तीव्रता होती है तब उस गुणका दु खरूप परिणमन होता है। कषायोंमें माया, लोभ, हास्य, रति, तीनों वेद राग तथा क्रोध मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा द्वेष कहलाते हैं। ये कषायरूप राग

या द्वेष प्रगट रूपसे एक समयमें एक झलकते हैं परन्तु एक दूप रेके कारण होकर शीघ्र बदला बदली कर लेते हैं। किसी स्त्रीकी तृष्णासे राग हुआ, उसके वियोग होनेपर दूसरे समयमें द्वेष हो जाता है फिर यदि उसका संयोग हुआ तब फिर राग होजाता है। परिणामोंमें सल्केशता द्वेषसे होती है तथा आशक्ति रागसे होती है। बाहरी पदार्थ मात्र निमित्तकारण हैं। कभी इष्ट बाहरी कारण होते हुए भी परिणाममें अन्य किसी विचारके कारण द्वेष रहता है जिससे इष्ट शरीरादि सुखभाव नहीं दे सके हैं। प्रयोजन यह है, कि यही अशुद्ध आत्मा कषाय द्वारा सुखी तथा दुःखी होजाता है शरीर सुख या दुःखरूप नहीं होता है, ऐसा जानकर सांसारिक सुखको कषायजनित विकार मानकर तथा निजाधीन निर्विकार आत्मीक सुखका उपाय ठीक २ करना कर्तव्य समझकर इस सुखके लिये निज शुद्धात्मामें उपयोग रखकर साम्यभावका लाभ करना चाहिये।

इस तरह मुक्त जीवोंके देह न होते हुए भी सुख रहता है इस बातको समझानेके लिये संसारी प्राणियोंकी भी देह सुखका नहीं है ऐसा कहते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ६८ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि यह आत्मा स्वयं सुख स्वभावको रखनेवाला है इसलिये जैसे निश्चय करके देह सुखका कारण नहीं है वैसे इंद्रियोंके पदार्थ भी सुखके कारण नहीं हैं।

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तध सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति॥

तिमिरहरा यदि दृष्टिर्जनस्य दीपेन नास्ति कर्तव्यम्।
तथा सौख्यं स्वयमात्मा विषया किं तत्र कुर्वन्ति ॥ ६९ ॥

सामान्यार्थ–जिस पुरुषकी दृष्टि यदि अंधकारको दूर करनेवाली है अर्थात् अंधेरेमें देख सक्ती है उसको दीपकसे कुछ करना नहीं है वैसे ही यदि आत्मा स्वयं सुखरूप है तो वहां इन्द्रियोंके विषय क्या कर सक्ते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(जइ) जो (जणस्स दिट्ठी) किसी मनुष्यकी दृष्टि रात्रिको (तिमिरहरा) अंधकारको हरनेवाली है अर्थात् अंधेरेमें देख सक्ती है तो (दीवेण कादव्वं णत्थि) दीपसे कर्तव्य कुछ नहीं है। अर्थात् दीपकोंका उसके लिये कोई प्रयोजन नहीं है। (तह) वैसे (आदा सयम् सोक्खं) जो निश्चय करके पचेंद्रियोंके विषयोंसे रहित, अमूर्तीक, अपने सर्व प्रदेशोंमें आल्हादरूप सहज आनन्द एक लक्षणमई सुख स्वभाववाला आत्मा स्वयं है (तत्थ विसया किं कुव्वंति) तो वहां मुक्ति अवस्थामें हो या संसार अवस्थामें हो इन्द्रियोंके विषयरूप पदार्थ क्या कर सक्ते हैं? कुछ भी नहीं कर सक्ते। यह भाव है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने साफ २ प्रगट कर दिया है कि सुख आत्माका स्वभाव है। इसलिये जैसे बाहरी शरीर सुखरूप नहीं है वैसे इन्द्रियोंके विषयभोगके पदार्थ भी सुखरूप नहीं हैं। वास्तवमें इस संसारी प्राणीने मोहके कारण ऐसा मान रक्खा है कि धन, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि पदार्थ सुखदाई हैं। वास्तवमें बाहरी पदार्थ जैसेके तैसे अपने स्वभावमें हैं। हमारी कल्पनासे अर्थात् कषायके उदयजनित विकारसे कभी कोई पदार्थ

सुखदाई व कभी कोई पदार्थ दुखदाई भासते हैं। जब स्त्री आज्ञामें चलती है तब सुखदाई और जब आज्ञासे विरुद्ध चलती है तब दुखदाई भासती है। रागीको यह सुखरूप तथा वैरागीको दुखरूप प्रगट होता है। निश्चयसे कोई पदार्थ सुख या दुखरूप नहीं है न कोई दूसरेको सुखी या दुखी करसक्ता है। यह प्राणी अपनी कल्पनासे कभी किसीके द्वारा सुखरूप तथा कभी दुखरूप होजाता है। जैसा पहले गाथाओंमें कहा है कि सुख आत्माका निज स्वभाव है वैसे यहां कहा है कि सुखस्वरूप स्वयं आत्मा ही है। जैसे ज्ञान स्वभाव आत्माका है वैसे सुख भी स्वभाव आत्माका है, संसार अवस्थामें उसी सुख गुणका विभावरूप परिणमन होता है। चारित्रमोहके उदय वश आत्मीक सुखका अनुभव नहीं होता है। परंतु जब यत्नपूर्वक मोहके उदयको दूरकर कोई आत्मज्ञानी महात्मा अपने आत्मामें निज उपयोगकी थिरता करता है तो उसको उस सच्चे स्वाधीन सुखका स्वाद आता है। केवलज्ञानीके मोहका अभाव है इसलिये वे निरंतर सच्चे आनन्दका विलास करते हैं। प्रयोजन कहनेका यह है कि जब सुख निज आत्मामें है तब निज आत्माका ही स्वाद स्वाधीनतासे लेना चाहिये। इसके लिये न शरीरकी न धनादिकी न सोना पान वस्त्रादिकी आवश्यक्ता है। आत्मीक सुख तो तब ही अनुभवमें आता है जब सर्व परपदार्थोंसे मोह [illegible] ठहरा जाता है। यहां आचार्यने दृष्टांत दिया है कि जो कोई चोर सिंह, बिलाव, सर्प आदि स्वयं देख सके हैं उनके लिये दीपककी जरूरत नहीं है। देख

नेंका स्वभाव दृष्टिमें ही है। यह संसार अंधेरी रात्रिके समान है। अज्ञानी मोही बहिरात्मा जीवोंकी दृष्टि आत्मीक सुखको अनुभव करनेके लिये असमर्थ है। इसलिये बाहरी पदार्थोंका निमित्त मिलाकर वे जीव सांसारिक तथा काल्पनिक सुखको सुख मानकर रंजायमान होते हैं। वहां भी उनके ही सुख गुणका उनको अनुभव हुआ है परन्तु वह विभावरूप भया है। इस बातको मोही जीव नहीं विचारते हैं। जैसे कोई मूर्ख रात्रिको दीपकसे देखता हुआ यह माने कि दीपक दिखाता है। मेरी आंख देखती है दीपक मात्र सहायक है ऐसा न समझे वैसे अज्ञानी मोही जीव यह समझता है कि पर पदार्थ सुख या दुःख देते हैं। मेरेमें स्वयं सुख है और वह परपदार्थके निमित्तसे मुझे भासा है इस बातका ज्ञान श्रद्धान अनादियोंको नहीं होता है। यहां आचार्यने सचेत किया है कि आत्मा स्वयं आनन्दरूप है। इसलिये शरीर व विषयोंको सुखदाई दुःखदाई मानना केवल मोहका महात्म्य है। ऐसा जानकर ज्ञानीका कर्तव्य है कि साम्यभावमें ठहरनेका अभ्यास करे जिससे निज सुखका स्वयं अनुभव हो–ऐसा तात्पर्य है ॥६९॥

उत्थानिका–आगे आत्मा सुख स्वभाववाला भी व ज्ञान स्वभाववाला भी है इसी बातको दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं–

सयमेव जधादिच्चो, तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धो वि तधा णाणं, सुहं च लोगे तधा देवो ॥७०॥

स्वयमेव यथादित्यस्तेजः उष्णश्च देवता नभसि।
सिद्धोपि तथा ज्ञानं सुखं च लोके तथा देवः ॥ ७० ॥

सामान्यार्थ-जैसे आकाशमें सूर्य स्वय ही तेज रूप, उष्णरूप तथा देवता पदमें स्थित ज्योतिषी देव है तैसे इसलोकमें सिद्ध भगवान भी ज्ञान स्वभाव, सुख स्वभाव तथा भगवान हैं।

अन्वय, सहित विशेषार्थ-(नभसि) आकाशमें (सयमेव जधादिच्चो) जैसे दूसरे कारणकी अपेक्षा न करके स्वय ही सूर्य (तेजो) अपने और दूसरेको प्रकाश करनेवाला तेजरूप है (उण्हो य) तथा स्वय उष्णता देनेवाला है (देवदा य) तथा देवता है अर्थात् ज्योतिषीदेव है अथवा अज्ञानी मनुष्योंके लिये पूज्य देव है (तथा) तैसे ही (लोगे) इस लोकमें (सिद्धो वि -णाण सुह च तथा देवो) सिद्ध भगवान भी दूसरे कारणकी अपेक्षा न करके स्वय ही स्वभावसे स्व पर प्रकाशक केवलज्ञानस्वरूप हैं तथा परम तृप्तिरूप निराकुलता लक्षणमई सुख रूप हैं तैसे ही अपने शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिसे पैदा होनेवाले सुदर आनन्दमें भीगे हुए सुखरूपी अमृतके प्यासे गणधर देव आदि परम योगियों, इन्द्रादि देवों व अन्य निकट भव्योंके मनमें निरन्तर भले प्रकार आराधने योग्य तैसे ही आत्मज्ञान आदि गुणोंके स्तवनसे स्तुति योग्य जो दिव्य आत्मस्वरूप उस स्वभावमई होनेसे देवता हैं। इससे जाना जाता है कि मुक्त प्राप्त आत्माओंको विषयोंकी सामग्रीसे भी कुछ प्रयोजन नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने पूर्वकथित गाथाओंका सार खींचकर बता दिया है कि शुद्ध आत्माका स्वभाव केवलज्ञानमय है और अतींद्रिय आनन्दमय है न उसके पास कोई अज्ञान है न

कोई रागद्वेषकी कालिमा है और इसीसे काल्पनिक पराधीन ज्ञान तथा सुख नहीं है। जबतक कर्मबन्धनकी अशुद्धता आत्मामें रहती है तबतक यह आत्मा अपने स्वाभाविक गुणोंका विकाश नहीं कर सक्ता है। बंधनके मिटते ही शुद्ध स्वभाव प्रगट हो जाता है। यद्यपि शुद्ध आत्मामें अनन्तगुणोंका प्रकाश हो जाता है तथापि यहां उन ही गुणोंको मुख्य करके बताया है जिनको हम जानकर आत्माकी सत्ताको अनात्मासे भिन्न पहचान सके हैं। इसी लिये यहां ज्ञान और सुख दो मुख्य गुणोंकी महिमा बता दी है–ज्ञानसे सर्वको जानते तथा आपको जानते और सुखसे स्वाधीन निजानन्दका भोग करते हुए परमाल्हाद रूप रहते हैं। और इसी कारण शुद्ध आत्मा गणधर इन्द्रादिक तथा अन्य ज्ञानी सम्यग्दृष्टी भव्योंके द्वारा आराधने योग्य व स्तवनके योग्य परम देवता है। यहां दृष्टांत सूर्यका दिया है। सूर्यमें एक ही काल तेज और उष्णता प्रगट है अर्थात सूर्य सब पदार्थोंको व अपनेको प्रकाश करता है और उष्णता प्रदान करता है–और इसीलिये अज्ञानी लौकिक जनोंके द्वारा देवता करके आदर पाता है। वास्तवमें सन्मान गुणोंका हुआ करता है। इस गाथासे यह भी आचार्यने प्रगट किया है कि ऐसा ही शुद्ध आत्मा हमारे द्वारा परमदेव मानने योग्य है। तथा हमें अपने आत्माका स्वभाव ऐसा ही जानना, मानना तथा अनुभवना चाहिये–इसी स्वभावके ध्यानसे स्वसंवेदन ज्ञान तथा निजात्मीक सुख झलकता है जो केवलज्ञान और अनन्तसुखका कारण है। वास्तवमें शरीर तथा इन्द्रियोंके विषय सुखके कारण नहीं हैं। इस तरह स्वभावसे ही आत्मा सुख

स्वभाव है अतएव इन्द्रियोंके विषय भी मुक्तात्माओंके सुखके कारण नहीं होते हैं ऐसा कहते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुई ॥७०॥

उत्थानिका-आगे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव पूर्वमें कहे हुए लक्षणके धारी अनतसुखके आधारभूत सर्वज्ञ भगवानको वस्तु स्वरूपसे स्तवनकी अपेक्षा नमस्कार करते हैं -

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं, माहप्पं जस्स सो अरिहो॥ ७१

तेज दृष्टि ज्ञान ऋद्धि सुख तथैव ऐश्वर्य।
त्रिभुवनप्रधानदैव माहात्म्यं यस्य सोऽर्हन् ॥ ७१ ॥

सामान्यार्थ-भामडल, केवलदर्शन, केवलज्ञान, समवसरणकी विभूति, अतींद्रिय सुख, ईश्वरपना, तीन लोकमें प्रधान देवपना इत्यादि महात्म्य जिसका है उसे अर्हन्त कहते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तेजो) प्रभाका मंडल (दिट्ठी) तीन जगत व तीन कालकी समस्त वस्तुओंकी सामान्य सत्ताको एक काल ग्रहण करनेवाला केवलदर्शन (णाण) तथा उनकी विशेष सत्ताको ग्रहण करनेवाला केवलज्ञान, (इड्ढी) समवशरणकी सर्व विभूति (सोक्ख) बाधा रहित अनंत सुख, (ईसरियं) व जिनके पदकी इच्छासे इन्द्रादिक भी जिनकी सेवा करते हैं ऐसा ईश्वरपना (तहेव तिहुवणपहाणदइयं) तैसे ही तीन भवनके ईशोंके भी वल्लभपना या इष्टपना ऐसा देवपना इत्यादि (जस्स माहप्पं) जिसका महात्म्य है (सो अरिहो) वही अरहंत देव है। इस प्रकार वस्तुका स्वरूप कहते हुए नमस्कार किया।

भावार्थ-यहां आचार्यने शुद्ध आत्माके जो केवलज्ञान और अतींद्रिय अनन्तसुख स्वभावको धरनेवाले हैं दो भेद किये हैं अर्थात् अरहंत और सिद्ध। और उनके स्वरूपका खुलासा करते हुए उनको नमस्कार किया है। क्योंकि वस्तुके स्वरूप मात्रको कहना भी नमस्कार हो जाता है। परमौदारिक शरीर सहित आत्माको अरहंत कहते हैं जिनका शरीर कोटि सूर्यसम दीप्तमान रहता हुआ अपनी दीप्तिसे चारों तरफ भामंडल बना लेता है, जिस शरीरको भोजनपानकी आवश्यक्ता नहीं होती है, चारों तरफसे शरीरको पुष्टिकारक नोकर्म वर्गणाओंका नित्य ग्रहण होता है। इस अरहंत भगवानके ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्मोंका अभाव हो गया है इसलिये केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्तबल तथा अतींद्रिय आनन्द, परम वीतरागता आदि स्वभाव प्रगट हो गए हैं। तथा पुण्यकर्मका इतना तीव्र उदय है जिससे समवशरणकी रचना हो जाती है जिसमें १२ सभाओंके द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यंच सब भगवानकी अनक्षरी दिव्यध्वनि सुनकर अपनी२ भाषामें धर्मका स्वरूप समझ जाते हैं। बड़े२ गणधर मुनि चक्रवर्ती राजा तथा इन्द्रादिक देव जिस अरहंत भगवानकी भली विधिसे आराधना करते हैं इस भावसे कि वे भी अरहंत पदके योग्य हो जावें ऐसा ईश्वरपना जिन्होंने प्राप्त कर लिया है तथा तीन लोकके ईस इन्द्र अहमिंद्र भी जिनको अंतरंगसे प्यार करते हैं ऐसे परम देवपनेको धारण करनेवाले हैं, इत्यादि अद्भुत महात्म्यके धारी श्री अरहंत भगवान कहे जाते हैं। इन अरहंतोंका शरीर परम सौम्य वीतरागमय झलकता है

जिसके दर्शन मात्रसे शांति छाजाती है। प्रयोजन कहनेका यह है कि जबतक हम निर्विकल्प समाधिमें आरूढ़ नहीं हैं तबतक हमको ऐसे श्री अरहंत भगवानका पूजन, भजन, आराधन, मनन करते रहना चाहिये। परमपुरुषकी सेवा हमारे भावोंको उच्च बनानेवाली है। यद्यपि अरहंत भगवान वीतराग होनेसे भक्ति करनेवालेसे प्रसन्न नहीं होते और न कुछ देते हैं परन्तु उनकी भक्तिसे हमारे भाव शुभ होते हैं जिससे हम स्वयं पुण्य कर्मोंको बांध लेते हैं और यदि हम अपने भावोंमें उनका निरादर करते व उनकी वचनसे निन्दा करते हैं तो हम अपने ही अशुभ भावोंसे पाप कर्मोंको बांध लेते हैं वे वीतराग हैं–समदर्शी हैं। न प्रसन्न होते न अप्रसन्न होते हैं। तथापि उनका दर्शन, पूजन, स्तवन हमारा उपकार करता है–जैसा श्री समंतभद्रस्वामीने अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें कहा है।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥

भावार्थ–हे भगवान! आप वीतराग हैं। आपको हमारी पूजा या भक्तिसे कुछ प्रयोजन नहीं है। अर्थात् आप हमारी पूजासे प्रसन्न नहीं होते, वैसे ही आप वैर भावसे रहित हैं इससे हमारी निन्दासे आप विकारवान नहीं होते हैं ऐसे आप उदासीन हैं तथापि आपके पवित्र गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पापके मैलोंसे पवित्र करता है अर्थात् आपके शुद्ध गुणोंको जब हमारा मन स्मरण करता है तब हमारा पाप नष्ट होजाता है और मन

भावार्थ-यहां आचार्यने शुद्ध आत्माके जो केवलज्ञान और अतींद्रिय अनन्तसुख स्वभावको धरनेवाले हैं दो भेद किये हैं अर्थात् अरहंत और सिद्ध और उनके स्वरूपका खुलाशा करते हुए उनको नमस्कार किया है। क्योंकि वस्तुके स्वरूप मात्रको कहना भी नमस्कार हो जाता है। परमौदारिक शरीर सहित आत्माको अरहंत कहते हैं जिनका शरीर कोटि सूर्यसम दीप्तमान रहता हुआ अपनी दीप्तिसे चारों तरफ भामंडल बना लेता है, जिस शरीरको भोजनपानकी आवश्यक्ता नहीं होती है, चारों तरफसे शरीरको पुष्टिकारक नोकर्म वर्गणाओंका नित्य ग्रहण होता है। इस अरहंत भगवानके ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्मोका अभाव हो गया है इसलिये केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्तबल तथा अतींद्रिय आनन्द, परम वीतरागता आदि स्वभाव प्रगट हो गए हैं। तथा पुण्यकर्मका इतना तीव्र उदय है जिससे समवशरणकी रचना हो जाती है जिसमें १२ सभाओंके द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यंच सब भगवानकी अनक्षरी दिव्यध्वनि सुनकर अपनी२ भाषामें धर्मका स्वरूप समझ जाते हैं। बडे२ गणधर मुनि चक्रवर्ती राजा तथा इन्द्रादिक देव जिस अरहंत भगवानकी भली विधिसे आराधना करते हैं इस भावसे कि वे भी अरहंत पदके योग्य हो जावें ऐसा ईश्वरपना जिन्होंने प्राप्त कर लिया है तथा तीन लोकके ईस इन्द्र अहमिंद्र भी जिनको अंतरंगसे प्यार करते हैं ऐसे परम देवपनेको धारण करनेवाले हैं, इत्यादि अद्भुत महात्म्यके धारी श्री अरहंत भगवान कहे जाते हैं। इन अरहंतोंका शरीर परम सौम्य वीतरागमय झलकता है

जिसके दर्शन मात्रसे शांति छाजाती है। प्रयोजन कहनेका यह है कि जबतक हम निर्विकल्प समाधिमें आरूढ नहीं हैं तबतक हमको ऐसे श्री अरहंत भगवानका पूजन, भजन, आराधन, मनन करते रहना चाहिये। परमपूज्यकी सेवा हमारे भावोंको उच्च बनानेवाली है। यद्यपि अरहंत भगवान वीतराग होनेसे भक्ति करनेवालेसे प्रसन्न नहीं होते और न कुछ देते हैं परन्तु उनकी भक्तिसे हमारे भाव शुभ होते हैं जिससे हम स्वयं पुण्य कर्मोंको बांध लेते हैं और यदि हम अपने भावोंमें उनका निरादर करते व उनकी वचनसे निन्दा करते हैं तो हम अपने ही अशुभ भावोंसे पाप कर्मोंको बांध लेते हैं वे वीतराग हैं-समदर्शी हैं। न प्रसन्न होते न अप्रसन्न होते हैं। तथापि उनका दर्शन, पूजन, स्तवन हमारा उपकार करता है-जैसा श्री समंतभद्रस्वामीने अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें कहा है।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥

भावार्थ-हे भगवान! आप वीतराग हैं। आपको हमारी पूजा या भक्तिसे कुछ प्रयोजन नहीं है। अर्थात् आप हमारी पूजासे प्रसन्न नहीं होते, वैसे ही आप वैर भावसे रहित हैं इससे हमारी निन्दासे आप विकारवान नहीं होते हैं ऐसे आप उदासीन हैं तथापि आपके पवित्र गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पापके मैलोंसे पवित्र करता है अर्थात् आपके शुद्ध गुणोंको जब हमारा मन स्मरण करता है तब हमारा पाप नष्ट होजाता है और मन

वैराग्यवान होकर पवित्र होजाता है ऐसा मान श्री अरहंत भगवानको ही आदर्श मानके उनकी भक्ति करनी योग्य है तथा भक्ति करते करते उनके समान अपने आत्माको देखकर आपमें आप तिष्ठकर स्वानुभवका आनन्द लेना योग्य है जो समताको विस्तारकर मोक्षरूप अखंड अविनाशी राज्यकी तरफ ले जाने वाला है ॥ ७१ ॥

उत्थानिका-आगे सिद्ध भगवानके गुणोंका स्तवनरूप नमस्कार करते हैं।

ते गुणदो अधिगदर, अविच्छिदं मणुवदेवपदिभाव अपुणब्भावणिबद्ध, पणमामि पुणो पुणो सिद्ध ॥ ७२

तं गुणत अधिकतरं अविच्छिदमनुजदेवपतिभाव ।
अपुनर्भावनिबद्ध प्रणमामि पुन पुन सिद्धं ॥ ७२ ॥

सामान्यार्थ-गुणोंसे परिपूर्ण, अविनाशी, मनुष्य व देवोंके स्वामी, मोक्षस्वरूप सिद्ध भगवानको मैं बारबार प्रणाम करता हूं।

अन्वय सहित विशेषार्थ (त) उस (सिद्ध) सिद्ध भगवानको जो (गुणदो अधिगतर) अव्याबाध, अनंत सुख आदि गुणों करके अतिशय पूर्ण हैं, (अविच्छिद मणुवदेवपदिभाव) मनुष्य व देवोंके स्वामीपनेसे उल्लंघन कर गए हैं अर्थात् जैसे पहले अरहंत अवस्थामें मनुष्य व देव व इन्द्रादिक समवशरणमें आकर नमस्कार करते थे इससे प्रभुपना होता था अब यहा उस भावको लांघ गए हैं अर्थात् सिद्ध अवस्थामें न समवशरण है न

देवादि आते व प्रत्यक्ष नमस्कार करते हैं। (नोट–यहां टीकाकारने अविच्छिद तथा मणुवदेवपरिभाव इन दोनों पदोंको एकमें मान कर अर्थ ऐसा किया है। यदि हम इन दोनों पदोंको अलग२ मानलें तो यह अर्थ होगा कि वह सिद्ध भगवान अविनाशी है। उनकी अवस्थाका कभी अभाव नहीं होगा तथा वे मनुष्य व देवोंके स्वामीपनेको प्राप्त हैं अर्थात् उनसे महान इस संसारमें कोई प्राणी नहीं है। सब उनहीका ध्यान करते हैं। यहां तक कि तीर्थंकर भी सिद्धोंका ही ध्यान तप अवस्थामें करते हैं) (अपुणब्भावणिबद्ध) तथा मुक्तावस्थामें निश्चल अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परावर्तनरूप संसारसे विलक्षण शुद्धबुद्ध एक स्वभावमई निज आत्माकी प्राप्ति है लक्षण जिसका ऐसी मोक्षके आधीन हैं अर्थात् स्वाधीन व मुक्त हैं (पुणो पुणो पणमामि) बारबार नमस्कार करता हूं।

भावार्थः–यहां आचार्यने निकल परमात्मा श्री सिद्धभगवानको नमस्कार किया है। सिद्धोंके शरीर कोई प्रकारके नहीं होते हैं जब कि अरहंतोंके औदारिक तैजस और कार्माण ऐसे तीन शरीर होते हैं। सिद्धोंमें पूर्ण आत्मीकगुण या स्वभाव झलक रहे हैं क्योंकि कोई भी आवरण व कर्मकृत अजन सिद्ध भगवानके नहीं है। वे सर्व ही सम्यग्ज्ञानियोंके द्वारा भजनीय व पूज्य हैं इसीसे त्रिलोकके स्वामी हैं, उनके स्वभावका कभी वियोग न होगा तथा वे मोक्षके अतीन्द्रिय आनन्दके नित्य भोगनेवाले हैं। आचार्यने पूर्व गाथाओंमें जिस केवलज्ञानकी तथा अनन्तसुखकी महिमा बताई है उसके जैसे श्री अरहंत भगवान स्वामी हैं वे

श्री सिद्धपरमेष्टी भी हैं–ये दोनों ही परमात्मा सविकल्प अवस्थामें व शुद्धोपयोगकी भावनाके समय ध्यान करने योग्य हैं–इनहीके द्वारा यह आत्मा अपने निज स्वभावमें निश्चलता प्राप्त करता है। जगतके प्राणियोंको किसी देवकी आवश्यक्ता पड़ती है जिसकी वे भक्ति करें उनके लिये आचार्यने बता दिया है कि जैसे हमने यहां श्री अरहंत और सिद्ध परमात्माको नमस्कार किया है वैसे सर्व उपासक श्रावक श्राविका भी इनहीकी भक्ति करो–इनहीके द्वारा मोक्षका मार्ग प्रगट होगा व आत्माको परम सुखकी प्राप्ति होगी।

इस प्रकार नमस्कारकी मुख्यतासे दो गाथाएं पूर्ण हुईं। इस तरह आठ गाथाओंसे पांचवा स्थल जानना चाहिये। इस तरह अठारह गाथाओंसे व पांच स्थलसे सुख प्रपंच नामका अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ। इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण "एस सुरासुर" इत्यादि चौदह गाथाओंसे पीठिकाको वर्णन किया। फिर सात गाथाओंसे सामान्यपने सर्वज्ञकी सिद्धि की, फिर तेतीस गाथाओंसे ज्ञान प्रपंच फिर अठारह गाथाओंसे सुख प्रपंच इस तरह समुदायसे बहत्तर गाथाओंके द्वारा तथा चार अन्तर अधिकारोंसे शुद्धोपयोग नामका अधिकार पूर्ण किया ॥ ७२ ॥

उत्थानिका–इसके आगे पचीस गाथा पर्यंत ज्ञानकठिका चतुष्टय नामका अधिकार प्रारम्भ किया जाता है। इन २९ गाथाओंके मध्यमें पहले शुभ व अशुभ उपयोगमें मूढ़ताको हटानेके लिये " देवदजदि गुरु " इत्यादि दश गाथाओं तक पहली ज्ञानकठिकाका कथन है। फिर परमात्माके स्वरूपके ज्ञानमें मूढ़

ताको दूर करनेके लिये "चत्ता पावारम्भ" इत्यादि सात गाथाओं तक दूसरी ज्ञानकठिका है। फिर द्रव्यगुण पर्यायके ज्ञानके सम्बन्धमें मूढ़ताको हटानेके लिये "दव्वादीएसु" इत्यादि छ गाथाओं तक तीसरी ज्ञानकठिका है। फिर स्व और पर तत्वके ज्ञानके सम्बन्धमें मूढ़ताको हटानेके लिये "णाणप्पग" इत्यादि दो गाथाओंसे चौथी ज्ञानकठिका है। इस तरह इस चार अधिकारकी समुदायपातनिका है।

अब यहा पहली ज्ञानकठिकामें स्वतन्त्र व्याख्यानके द्वारा चार गाथाए हैं। फिर पुण्य जीवके भीतर विषयभोगकी तृष्णाको पैदा कर देता है ऐसा कहते हुए गाथाए चार हैं। फिर सकोच करते हुए गाथाए दो हैं–इस तरह तीन स्थलतक क्रमसे व्याख्यान करते हैं। यद्यपि पहले छ गाथाओंके द्वारा इद्रियोंके सुखका स्वरूप कहा है तथापि फिर भी उसीको विस्तारके साथ कहते हुए उस इद्रिय सुखके साधक शुभोपयोगको कहते हैं–अथवा दूसरी पातनिका है कि पीठिकामें जिस शुभोपयोगका स्वरूप सूचित किया है उसीका यहा इद्रियसुखके विशेष कथनमें इद्रिय सुखका साधकरूप विशेष व्याख्यान करते हैं –

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो, सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥७३॥

देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु ।
उपवासादिषु रक्त शुभोपयोगात्मक आत्मा ॥ ७३ ॥

सामान्यार्थ–जो श्री जिनेन्द्रदेव, साधु और गुरुकी

पूजामें तथा दानमें वा सुन्दर चारित्रमें वा उपवासादिकोंमें रत लीन है वह शुभोपयोगमई आत्मा है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-जो (देवदजदिगुरुपूजासु) देवता, यति, गुरुकी पूजामें (चेव दाणम्मि) तथा दानमें (वा सुसीलेसु) और सुशीलरूप चारित्रोंमें (उववासादिसु) तथा उपवास आदिकोंमें (रत्तो) आसक्त है वह (सुहोवओगप्पगो अप्पा) शुभोपयोग धारी आत्मा कहा जाता है। विशेष यह है कि जो सर्व दोष रहित परमात्मा है वह देवता है, जो इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके शुद्ध आत्माके स्वरूपके साधनमें उद्यमवान है वह यति है, जो स्वयं निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयका आराधन करनेवाला है और ऐसी आराधनाके चाहनेवाले भव्योंको जिन दीक्षाका देनेवाला है वह गुरु है। इन देवता, यति और गुरु ओंकी तथा उनकी मूर्ति आदिकोंकी यथासंभव अर्थात् जहां जैसी संभव हो वैसी द्रव्य और भाव पूजा करना, आहार, अभय, औषधि और विद्यादान ऐसा चार प्रकार दान करना, आचारादि ग्रंथोंमें कहे प्रमाण शीलव्रतोंको पालना, तथा जिनगुणसंपत्ति आदि लेकर अनेक विधि विशेषसे उपवास आदि करना-इतने शुभ कार्योंमें लीनता करता हुआ तथा द्वेषरूप भाव व विषयोंके अनुराग रूप भाव आदि अशुभ उपयोगसे विरक्त होता हुआ जीव शुभोपयोगी होता है ऐसा सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ-यहां आचार्यने शुद्धोपयोगमें प्रीतिरूप शुभोपयोगका स्वरूप बताया है अथवा अरहंत सिद्ध परमात्माके मुख्य ज्ञान और आनन्द स्वभावोंका वर्णन करके उन परमात्माके आरा

धनकी सूचना की है अथवा मुख्यतासे उपासकका कर्तव्य बताया है। शुभोपयोगमें कषायोंकी मंदता होती है। वह मंद कषाय इन व्यवहार धर्मोंके पालनसे होती है जिनको गाथामें सूचित किया है अर्थात् सच्चे देवताकी श्रद्धापूर्वक भक्ति और पूजा करना व्यवहार धर्म है। जिसमें क्षुधादि अठारह दोष नहीं है तथा जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी और अतींद्रिय अनन्त सुखके धारी हैं ऐसे अरहंत भगवान तथा सर्व कर्म रहित श्री सिद्ध भगवान ये ही सच्चे पूजने योग्य देवता हैं। इनके गुणोंमें प्रीति बढ़ाते हुए मनसे, वचनसे तथा कायसे पूजा करना शुभोपयोगरूप है। प्रतिबिम्बोंके द्वारा भी वैसी ही भक्ति हो सक्ती है जैसी साक्षात् समवशरणमें स्थित अरहंत भगवानकी। तथा द्रव्य पूजाके निमित्तसे भाव पूजा होती है। पूज्यके गुणोंमें उपयोगका लीन होना भाव पूजा है। जल चंदनादि अष्ट द्रव्योंको चढ़ाते हुए गुणानुवाद करना अथवा कहीं कहीं श्रावक अवस्थामें व मुनि अवस्थामें केवल मुखसे पाठ द्वारा गुणोंका कथन करना व नमन करना द्रव्य पूजा है। गृहस्थोंके मुख्यतासे आठ द्रव्योंके द्वारा व कमसे कम एक द्रव्यके द्वारा पूजा होती है व गौणतासे आठ द्रव्योंके विना स्तुति मात्र व नमस्कार मात्रसे भी द्रव्य पूजा होती है। मुनियोंके सामग्रीका ग्रहण नहीं है। वे सर्व त्यागी हैं। इस लिये मुनि महाराज स्तुति व वंदना करके द्रव्य पूजा करते हैं। जैसे नमस्कारके दो भेद हैं–द्रव्य नमस्कार व भाव नमस्कार वैसे पूजाके दो भेद हैं–द्रव्य पूजा व भाव पूजा। जिसको नमस्कार किया जाय उसके गुणोंमें तल्लीनता भाव नमस्कार है वैसे जिनको

पूजा जावे उसके गुणोंमें लीनता भाव पूजा है। वचनसे नम शब्द कहना व अगोंका झुकाना द्रव्य नमस्कार है वैसे पूज्य पुरुषके गुणानुवाद गाना, नमन करना, अष्टद्रव्यकी भेट चढाना द्रव्य पूजा है। द्रव्य पूजा निमित्त है भाव पूजा साक्षात् पूजा है। यदि भाव पूजा न हो तो द्रव्य पूजा कार्यकारी नहीं होगी। इसलिये अरहत व सिद्धकी भक्ति भावोंकी निर्मलताके लिये ही करनी चाहिये। श्री समत भद्राचार्यने स्वयमू स्तोत्रमें भक्ति करते हुए यही भाव झलकाया है जैसे—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चित सता समग्रविद्यात्मवपुर्निरजन.।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः॥५॥

भावार्थ—वह जगतको देखने वाले, साधुओंसे पूज्यनीक पूर्ण ज्ञानमई देहके धारी, निरजन व अल्पज्ञानी अन्य वादियोंके मतको जीतनेवाले श्री नाभिराजाके पुत्र श्री वृषभ जिनेद्र मेरे चित्तको पवित्र करो। भावोंकी निर्मलता होनेसे जो शुभ राग होता है वह तो महान पुण्य कर्मको बाधता है व जितने अश वीतराग भाव होता है वह पूर्व बधे हुए कर्मोंकी निर्जरा करता है—यहा देवताका आराधन अरहत व सिद्धका आराधन ही समझना चाहिये। जिनको बड़े २ इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, साधु गणधर आदि मस्तक नमाते हैं वे ही एक जैन गृहस्थके द्वारा भी पूजने योग्य देव हैं। इनको छोडकर अन्य रागद्वेष सहित कर्मबन्धनमें बन्धे जन्म मरण करनेवाले स्वर्गवासी व पातालवासी व मध्यलोकवासी देवगतिमें तिष्ठे हुए किसी भी जीवको देवता मानकर पूजना व आराधना न चाहिये। जो इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहनाको छोडकर शुद्ध रमाके

स्वभावोंको प्रगट करनेके लिये रत्नत्रयमई धर्मका यत्न सर्व परिग्रह छोड़ व तेरा प्रकार चारित्र धारणकर करते हैं वे यति या साधु हैं। इनकी पूजा करनी शुभोपयोग है। साधुओंकी भक्ति आठ द्रव्योंसे पूजा, स्तुति, नमस्कारसे भी होती तथा भक्तिपूर्वक शुद्ध आहार, औषधि व शास्त्र दानसे भी होती है। जो साधु स्वयं रत्नत्रयको साधते हुए दूसरोंको साधुधर्म साधन कराते अथवा उनको शास्त्रकी शिक्षा देते ऐसे आचार्य और उपाध्याय गुरु हैं। इनकी पूजामें आशक्त होना शुभोपयोग है इस तरह "देवदर्शनदिगुरुपूजासु" इस एक पदसे आचार्यने अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचों परमेष्टियोंकी भक्तिको सूचित किया है। दानमें भक्ति पूर्वक उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रोंको पात्रदान तथा दया पूर्वक दुःखितों व अज्ञानियोंको आहार, औषधि, विद्या तथा अभयदान करना बताया है। जैसे पूजा करनेसे कषाय मंद होती है वैसे दान देनेसे कषाय मंद होती है। तीसरे सुशीलोंमें महाव्रतरूप तथा अणुव्रतरूप मुनि व श्रावकका व्यवहार चारित्र बताया है। मुनियोंको पांच महाव्रत, पांच समिति तथा तीन गुप्तिमें और श्रावकोंको बारहव्रतरूप चारित्रमें लवलीन होना चाहिये-यह सब शुभोपयोग है। उपवासादिमें बारह प्रकार तप समझने चाहिये-इन तपोंमें मुनियोंको पूर्णरूपसे तथा श्रावकोंको एक देशमें आशक्त होना चाहिये। इनमें मुख्य तप ध्यान है ध्यान करनेमें प्रीति, उपवास करनेमें अनुराग, रसत्याग करनेमें रति इत्यादि १२ तपोंमें प्रेम करना शुभोपयोग है।

इस शुभोपयोगमें परिणमन करनेवाला आत्मा स्वयं शुभो-

पगी ही ज्ञाता है। इस गाथामें
वर्णन कर दिया है। शुभोपयोगमें
भोपयोगसे बचा रहता है तथा यह
चढ़नेके लिये मध्यकी सीढ़ी है।
करते हुए शुभोपयोगमें वर्तन करना
सम्यग्दृष्टीके ही होता है जैसा पहले
गौणतासे अर्थात् मोक्षमार्गमें परिणमन
बंधकी अपेक्षासे मिथ्यादृष्टीके भी
मिथ्यात्वी द्रव्यलिंगी मुनि भी
बारहवें स्वर्गतक जासक्ता है। तात्पर्य,
ही उपादेय मानके उसीकी भावनाकी
आदि शुभोपयोगके मार्गमें वर्तना चा

उत्थानिका-आगे बताते
शुभोपयोगके द्वारा जो पुण्यकर्म
इंद्रियसुख प्राप्त होता है-यह

जुत्तो सुहेण आदा, तिरियो
भूदो तावदि कालं, लहदि

युक्त शुभेन आत्मा तिर्यग्
भूतस्तावत्कालं लभते सुखमै

सामान्यार्थ-शुभोपयोगसे
या तिर्यंच होकर उतने काल तक
सुखको भोगता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सुहेणजुत्तो आदा) जैसे निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धोपयोगसे युक्त आत्मा मुक्त होकर अनन्त कालतक अतींद्रियसुखको प्राप्त करता है तैसे ही पूर्वसूत्रमें कहे हुए शुभोपयोगमें परिणमन करता हुआ यह आत्मा (तिरियो वा माणुसो वा देवो वा भूदो) तिर्यंच या मनुष्य या देव होकर (तावदि कालं) उतनी अपनी आयुपर्यंत (विविहं इंदिय सुहं लहदि) नाना प्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न सुखको पाता है।

भावार्थ-शुभोपयोग भी अपराध है क्योंकि परमें अनुरक्तता रूप राग है इसीसे बन्धरूप है। जितना शुभ भाव होता है उतना ही विशेष रसवाला साता वेदनीय, शुभनाम, उच्च गोत्र तथा शुभ आयुका बन्ध हो जाता है। सम्यक्ती जीवोंके सम्यक्की भूमिकामें जो शुभ भाव होता है वह तो अतिशयकारी पुण्यका बंध करता है-ऐसा सम्यक्ती जीव सिवाय कल्पवासी देवकी आयुके अथवा देव पर्यायमें यदि है तो सिवाय उत्तम मनुष्य पर्यायके और किसी आयुका बन्ध नहीं करता है। मिथ्या दृष्टी जीव अपने योग्य शुभोपयोगसे तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव आयु तथा इन गतियोंमें भोग योग्य पुण्य कर्म बांध लेते हैं। चार आयुमें नरक आयु अशुभ है क्योंकि यह आयु नारकियोंको सदा क्लेशरूप भासती है पर कि तिर्यंच, मनुष्य या देवोंको अपनी२ आयु सदा क्लेशरूप नहीं भासती है। इन तीनोंको इन्द्रिय भोगके योग्य कुछ पदार्थ मिल जाते हैं जिनमें ये प्राणी रति करते हुए अपनी आयुको सुखदाई मानलेते हैं। शुभोपयोगमें जितना कषाय अंश होता है वह ... को बाध

देता है। जो पुण्यकर्म इष्ट पुद्गलोंको व इष्ट पुद्गल सहित जीवोंको आकर्षण करलेता है। उनहीमें आशक्त होकर यह संसारी प्राणी इन्द्रियसुखका भोग कर लेता है। यह इन्द्रिय सुख पराधीन है-पुण्य कर्मके आधीन है, इसलिये त्यागने योग्य है। अतींद्रिय सुख स्वाधीन है, इसलिये ग्रहण करने योग्य है। ऐसा जानकर शुद्धोपयोगकी भावना नित्य करनी योग्य है॥ ७४॥

उत्थानिका-आगे आचार्य दिखाते हैं कि पूर्वगाथामें जिस इंद्रिय सुखको बतलाया है वह सुख निश्चयनयसे सुख नहीं है, दु:खरूप ही है।

सोक्खं सहावसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसयेसु रम्मेसु ॥ ७५ ॥

सौख्यं स्वभावसिद्धं नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे।
ते देहवेदनार्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ७५ ॥

सामान्यार्थ-देवोंके भी आत्मस्वभावसे प्राप्त होनेवाला सुख नहीं है ऐसा परमागममें सिद्ध है। वे देव शरीरकी वेदनासे पीडित होकर रमणीक विषयोंमें रमन कर लेते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-मनुष्यादिकोंके सुखकी तो बात ही क्या है (सुराणंपि) देवों व इन्द्रोंके भी (सहाव सिद्ध सोक्खं) स्वभावसे सिद्ध सुख अर्थात् रागद्वेषादिकी उपाधिसे रहित चिदानन्दमई एक स्वभावरूप उपादानकारणसे उत्पन्न होनेवाला जो स्वाभाविक अतींद्रिय सुख है सो (णत्थि) नहीं होता है (उवदेसे सिद्धं) यह परमागमके उपदेशमें उप

रूपी हाथी सिरपर खड़ा हो और वह मधुकी बूंदके समान इंद्रिय विषयके सुखका भोगता हुआ अपनेको सुखी माने सो उसकी अज्ञानता है। विषयसुख दुःखका घर है। ऐसा सांसारिक सुख त्यागने योग्य है जब कि मोक्षका सुख आपत्ति रहित स्वाधीन तथा अविनाशी है इसलिये ग्रहण करने योग्य है, यह तात्पर्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि सच्चा सुख आत्माका निज स्वभाव है जिस सुखके लिये किसी परपदार्थकी वांछा नहीं होती है। न वहां कोई आकुलता, चिंता व तृषाकी दाह होती है। वह सुख निज आत्माके अनुभवसे प्राप्त होता है। इसके सामने यदि इंद्रियजनित सुखको देखा जावे तो वह दुःखरूप ही प्रतीत होगा। जिनके मिथ्यात्व और कषायका दमन होगया है ऐसे वीतराग सम्यग्दृष्टी जीव इसी आनन्दका निरंतर अनुभव करते हैं उनको कभी भी इंद्रिय विषय भोगकी चाहकी दाह सताती नहीं है। किन्तु जो मिथ्यादृष्टी अज्ञानी बहिरात्मा हैं चाहे वे देवगतिमें भी क्यों न हों तथा जिनको स्वात्मानुभवके लाभके बिना उस अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद नहीं विदित है वे विचारे निरंतर इन इंद्रियोंके विषयभोगकी ज्वालासे जला करते हैं और अनेक आपत्तियोंको सहकर भी क्षणिक विषयसुखको भोगना चाहते हैं। वे बराबर तृषावान होकर बड़े उद्यमसे विषयभोगकी सामग्रीको पाकर उसे भोगते हैं परन्तु तृषाको बुझानेकी अपेक्षा उलटी बढ़ा लेते हैं। जिससे उनकी चाहकी आकुलता कभी मिटती नहीं वे असंख्यात वर्षोंकी आयु रखते हुए भी दुःखी ही बने रहते हैं-उनकी आत्माको

सुख था ऐसा लाभ होता नहीं। टीकाकारने जो दृष्टांत दिया है कि मूर्ख प्राणी एक मधुकी बूंदके लोभमें आगे आनेवाली आपत्तिको भूल जाता है सो बिल्कुल सच है-मरण निकट है। परलोकमें क्या होगा इस सब विचारको अपने लिये भूलकर आप रातदिन विषयभोगमें पड़ा रहता है। उसकी दशा उस अज्ञानीकी तरह होती है जिसका वर्णन स्वामी पूज्यपादजीने इष्टोपदेशमें किया है —

विपत्तिमात्मनो मूढ' परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमानमृगाकीर्णवनांतरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

भाव यह है कि मूर्ख अज्ञानी जैसे दूसरोंके लिये आपत्तियोंका आना देखता है वैसा अपने लिये नहीं देखता है। जैसे जलते हुए वनके भीतर वृक्षके ऊपर बैठा हुआ कोई मनुष्य मृगोंका भागना व जलना देखता हुआ भी आप निश्चिंत बैठा रहे अपना जलना होनेवाला है इसको न देखे। बहिरात्मा अज्ञानी जीवोंकी यही दशा है। वे बिचारे निजानंदको न पाकर इसी विषयसुखमें लुब्धायमान रहते हैं। यहां पर यह शंका होगी कि सराग सम्यग्दृष्टी जीव फिर विषयभोग क्यों करते हैं क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टीको भी स्वात्मानुभव हो जाता है यह अतींद्रिय आनन्दका लाभ कर लेता है फिर भी गृहस्थ अवस्थामें पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमें क्यों जाते हैं क्यों नहीं सर्व प्रपंचजाल छोड़कर निजानंदका भोग करते हैं? इस शंकाका समाधान यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टियोंके अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व कर्म उदयमें नहीं हैं इसीसे उनके यथावत् श्रद्धान और ज्ञान तो हो गया है

परन्तु चारित्र यद्यपि मिथ्या नहीं है तथापि बहुत ही अल्प है। क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका उदय है। इन कषायोंके उदयमें पूर्व संस्कारके वश जानते हुए भी व श्रद्धान करते हुए भी कि ये इंद्रियसुख अतृप्तिकारी, बंधकारक, तृष्णाको वृद्धि करनेवाला है वे विचार इंद्रियभोगोंमें पड़ जाते हैं और भोग लेते हैं। यद्यपि वे अपनी निन्दा गर्हा करते रहते हैं तथापि आत्म-बलकी व वीतरागताकी कमीसे इतने पुरुषार्थी नहीं होते जो अपने श्रद्धान तथा ज्ञानके अनुकूल सदा वर्तन कर सकें, परन्तु मिथ्यादृष्टीकी तरह आकुलव्याकुल व तृषातुर नहीं होते हैं। चाह होनेपर उसकी शमनताके लिये योग्य विषयभोग कर लेते हैं। उनकी दशा उन जीवोंके समान होती है जिनको किसी नशा पीनेकी आदत पड़ गई थी-किसीके उपदेशसे उसके पीनेकी रुचि हट गई है। तौभी त्याग नहीं कर सके तब तक उस नशाको लाचारीसे लेते रहते हैं। जिनके अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय शमन होगई परन्तु प्रत्याख्यानावरणीय कषाय उदयमें है उनके चाह अधिक घट जाती है परन्तु वे भी सर्वथा इंद्रिय भोग छोड़ नहीं सक्ते। अपनी निन्दा गर्हा करते रहते व तत्वविचार व स्वात्ममननके अभ्याससे जब आत्मशक्ति बढ़ जाती तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय भी दमन होजाती तब वे विषयभोग सर्वथा त्यागकर साधु होकर जितेन्द्रिय रहते हुए ज्ञान ध्यानका मनन करते हैं। इससे नीचेकी अवस्थाके दो गुणस्थानोंमें जो विषय सुखका भोग है वह उनके ज्ञान व श्रद्धानका अपराध नहीं किन्तु उनके कषायके उदयका अपराध है सो भी त्यागने

योग्य है। यह बात अच्छी तरह ध्यानमें लेनेकी है कि सुख निराकुलता रूप है वह निज आत्म ध्यानमें ही प्राप्त होसक्ता है। पर पदार्थोंमें रागद्वेष करना सदा ही आकुलताका मूल है। ये रागद्वेष विषयकी आशक्तिके वश होजाते हैं इसलिये विषय सुखकी आशक्ति बिल्कुल छोड़ने योग्य है। श्री समंतभद्राचार्यने स्वयंभू स्तोत्रमें यही भाव दर्शाया है—

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्
तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं,
ततो भवानेवगतिः सतां मतः॥ २०॥

भाव यह है कि यह विषयोंकी आशक्ति मनुष्यको क्लेश देनेवाली है तथा तृष्णाकी बराबर वृद्धिको करनेवाली है। तथा विषयसुखको पाकर भी इस प्राणीकी अवस्था सुख व संतोषरूप नहीं रहती है। जबतक एक पदार्थ मिलता नहीं उसके मिलनेकी आकुलता रहती, यदि वह मिल जाता है तो उसकी रक्षाकी आकुलता रहती, यदि वह नष्ट होजाता है तो उसके वियोगकी आकुलता रहती है। एक विषय मिलनेपर संतोषसे बैठना होता नहीं अन्य अन्य विषयकी तृष्णा बढ़ती चली जाती है। हे प्रभु! अभिनंदन स्वामी! आपका लोकोपकारी ऐसा मत है इसी लिये मोक्षार्थी ज्ञानी पुरुषोंके लिये आप ही शरणके योग्य हैं। ऐसा जान इंद्रिय सुखको सुखरूप नहीं किन्तु दुःखरूप समझकर अतींद्रिय सुखके लिये निज आत्माका अनुभव शुद्धोपयोगके द्वारा करना योग्य है॥ ७१॥

उत्थानिका-आगे पूर्व कह प्रमाण शुभोपयोगसे होनेवाले इंद्रिय सुखको निश्चयसे दुःखरूप जानकर उस इंद्रिय सुखके साधक शुभोपयोगको भी अशुभोपयोगकी समानतामें स्थापित करते हैं।

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो, उवओगो हवदि जीवाणं ॥७६॥

नरनारकतिर्यक्सुरा भजन्ति यदि देहसंभवं दुःखम्।
कथं स शुभो वाऽशुभ उपयोगो भवति जीवानाम् ॥७६॥

सामान्यार्थ-मनुष्य नारकी पशु और देव जो शरीरसे उत्पन्न हुई पीड़ाको सहन करते हैं तो जीवोंका उपयोग शुभ या अशुभ कैसे होसक्ता है अर्थात् निश्चयसे अशुभ ही है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदि) जो (णरणारय तिरियसुरा) मनुष्य, नारकी पशु और देव स्वाभाविक अतींद्रिय अमूर्तीक सदा आनन्दमई जो सच्चा सुख उसको नहीं प्राप्त करते हुए (देहसंभवं दुक्खं भजंति) पूर्वमें कहे हुए निश्चय सुखसे विलक्षण पचेंद्रियमई शरीरसे उत्पन्न हुई पीड़ाको ही निश्चयसे सेवते हैं तो (जीवाणं सो सुहो व असुहो उवओगो किह हवदि) जीवोंके भीतर वह शुभ या अशुभ उपयोग जो शुद्धोपयोगसे भिन्न है व्यवहारसे भिन्न होनेपर भी किस तरह भिन्नताको रख सक्ता है? अर्थात् किसी भी तरह भिन्न नहीं है। एकरूप ही है।

भावार्थ-यहां आचार्यने सांसारिक दुःख तथा सुखको समान बता दिया है। क्योंकि दोनों ही आकुलतारूप व आत्माकी शुद्ध परिणतिसे विलक्षण तथा बंध रूप हैं। जैसे शरीरमें

रोगादिकी पीड़ा होनेसे कष्ट होता है वैसे इन्द्रियोंकी विषयचाह द्वारा जो आकुलता पैदा होती है और उस आकुलताके वश किसी पर पदार्थमें यह रमायमान होता है उस समय क्षणभरके लिये जो अज्ञानसे साताती माळ्म पड़ती है उसीको सुख कहते हैं, सो वह उस क्षणके पीछे तृष्णाको बढ़ानेसे व पुन विषयभोगकी इच्छाको जगानेसे तथा राग गर्भित परिणाम होनेसे बंधकारक है इस कारणसे दु ख ही है। वास्तवमें सांसारिक सुख सुख नहीं है किन्तु धातो विषय चाहरूप पीड़ाको कुछ कमी होनेसे दु खकी जो कमी कुछ देरके लिये होगई है उसीको व्यवहारमें सुख कहते हैं। असलमें दु खकी अधिकताको दु ख व उसकी कमीको सुख कहते हैं। वह कमी अर्थात् सुखाभास और अधिक दुःखके लिये कारण है। जैसे कोई मनुष्य नगे पग ज्येष्ठकी धूपमें चलता चला जाता हुआ गर्मीके दु खसे अति दुःखी हो मार्गमें कहीं एक छायादार वृक्ष देखकर वहां घबड़ाकर जाकर विश्राम करता है। जबतक वह ठहरता है तबतक कुछ गर्मीके कम होनेसे उसको सुखसा भासता है। वास्तवमें उसके दु खकी कमी हुई है फिर जैसे ही वह चलने लगता है उसको अधिक गर्मीकी पीड़ा सताती है। इसी तरह सांसारिक सुखको मात्र कोई दुःखकी कुछ देरके लिये शांति समझनी चाहिये। जहां पहले व पीछे आकुलता हो वह सुख कैसे? वह तो दु ख ही है।

श्री गुणभद्राचार्य श्री आत्मानुशासनमें कहते हैं:

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखं ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः

भावार्थ–धर्म वह है जहां अधर्म नहीं, सुख वह है जहा दु ख नहीं, ज्ञान वह है जहा अज्ञान नहीं, गति वह है जहासे लौटना नहीं। वास्तवमें सासारिक सुख दु ख दोनोंमें अपने ही रागद्वेषका भोग है। रागका भोग सुख है, द्वेषका भोग दु ख है। जब कोई प्राणी किसी भी इन्द्रियके विषयमें आशक्त हो उसी तरफ रागी हो जाता है और अन्य सब विषयोंसे छुट जाता है तब ही उसको सुख भासता है। ऐसे विषयभोगके समय रति अथवा तीनों वेदोंमेंसे कोई वेद वा हास्य ऐसे पांच नोकषायोंमेंसे कोई तथा लोभ या मायाका उदय रहता ही है–इनहीके उदयको राग कहते हैं। इसीका अनुभव सुख कहलाता है। दु खके समय द्वेषका भोग है। शोक, भय, जुगुप्सा, अरति इनमेंसे किसीका उदय तथा मान या क्रोधके उदयको ही द्वेष कहते हैं–इसी द्वेषका अनुभव दु ख है। जब किसी विषयकी चाह पैदा होती है तब राग है परन्तु उसी समय इच्छित पदार्थका लाभ न होनेसे वियोगसे शोक व ग्लानि व अरतिसी भावोंमें रहती है यही दु खका अनुभव है। जब वह प्राप्त होजाता है तब रति व लोभका उदय सो सुखका अनुभव है। सुखानुभवके समय सातावेदनीय तथा दु खानुभवके समय असाता वेदनीयका उदय भी रहता है। वेदनीय बाहरी सामग्रीका निमित्त मिलादेती है। यदि मोहनीयका उदय न हो और यह आत्मा वीतरागी रहे तो रागद्वेषकी प्रगटता न होनेसे इस वीतरागीको साता या असाता कुछ भी अनुभवमें न आएगी इसकारण एक अपेक्षासे रागका अनुभव सुख व द्वेषका अनुभव दु ख है। वास्तवमें कषायका स्वाद सासारिक सुख व दु ख है इसलिये यह

स्वाद मलीन तथा सक्लेशरूप है। सुखमें सक्लेश कम जब कि दुःखमें सक्लेश अधिक है। ये सुख तथा दुःख क्षण क्षणमें बदल जाते हैं व एक दूसरेके कारण होजाते हैं। एक स्त्री इस क्षण अनुकूल वर्तनसे सुखरूप वही अन्य क्षण प्रतिकूल वर्तनसे दुःख रूप भासती है। अर्थात उपयोग जब रागका अनुभव करता है तब सुख, जब द्वेषका अनुभव करता है तब दुःख भासता है। जब दोनोंमें कषायका ही भोग है तब यह सुख तथा दुःख एक रूप ही हुए—आत्माके स्वाभाविक वीतराग अतींद्रिय आनन्दसे दोनों ही विपरीत हैं। जब ये सुख व दुःख समान हैं तब जिस पुण्यके उदयसे सुख व जिस पापके उदयसे दुःख होता है वे पुण्य पाप भी समान हैं। जब पुण्य व पाप समान हैं तब जिस भावसे पुण्य बंध होता है वह शुभोपयोग तथा जिस भावसे पाप बंध होता है वह अशुभोपयोग भी समान हैं—दोनों ही कषाय भावरूप हैं। पूजा, दान, परोपकारादिमें रागभावको व अन्याय, अभक्ष्य, अन्यथा आचरणसे द्वेषभावको शुभोपयोग, तथा विषयभोग व परके अपकारमें रागभावको व धर्माचरणसे द्वेषभावको अशुभ उपयोग कहते हैं। ये शुभ व अशुभ उपयोग रागद्वेषमई हैं। ये दोनों ही आत्माके शुद्ध उपयोगसे भिन्न हैं इसलिये दोनों समान हैं। व्यवहारमें मंदकषायको शुभोपयोग व तीव्र कषायको अशुभोपयोग कहते हैं, निश्चयसे दोनों ही कषायरूप हैं इसलिये त्यागने योग्य हैं। इसी तरह इन उपयोगोंसे जो पुण्यकर्म तथा पापकर्म बंध होते हैं वे भी दोनों पुद्गलमई हैं इसलिये आत्मस्वभावसे भिन्न होनेके कारण त्यागने योग्य हैं। श्री समयसार कलशमें

श्री अमृतचन्द्राचार्यने कहा है –

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंध हेतुः ॥३॥

भावार्थ-पुण्य पापकर्म दोनोंका हेतु आत्माका अशुद्ध भाव है, दोनोंका स्वभाव पुद्गलमई है। दोनोंका अनुभव राग द्वेषरूप है दोनोंका आश्रय एक कलुषित आत्मा है इससे इनमें भेद नहीं है-दोनों ही बंध मार्गका आश्रय किये हुए हैं तथा समस्त यह कर्मबंधके कारण हैं, इसलिये ये पुण्य पाप समान हैं जैसे ही इनके उदयसे जो रागद्वेष सहित साता व असाताका अनुभव होता है वह भी कषायरूप अशुद्ध अनुभव है, आत्मीक अनुभवसे विलक्षण है इसलिये समान है। आचार्यका अभिप्राय यह है कि शुभोपयोगसे पुण्यबंध जो देव या मनुष्योंको सामग्री प्राप्त होती है उसीके कारण यह प्राणी रागी हो उनके रमनेको इसलिये जाता है कि विषयोंकी चाह शांत करूंगा परन्तु उनके भोग करनेसे तृष्णाको बढ़ा लेता है। चाहकी दाह बढ़ जाती है-यह दाह ही दुःख है। इसलिये यह इंद्रिय सुख दुःखका कारण होनेसे दुःखरूप है। जब ऐसा है तब शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों ही त्यागने योग्य हैं। क्योंकि जैसे पापोदयसे दुःखमें आकुलता होती है वैसे पुण्योदयसे सुखके निमित्तसे आकुलता होती है। इसलिये दोनों ही समान हैं-आत्माके शुद्ध भावसे भिन्न हैं।

श्री समयसारजीमें श्री कुंदकुंद भगवानने कहा है–

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाण सुहसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ १५२ ॥

भाव यह है कि यद्यपि व्यवहारनयसे अशुभोपयोग रूप कर्मको कुशील अर्थात् बुरा और शुभोपयोगरूप कर्मको सुशील अथवा अच्छा कहते हैं, परन्तु निश्चयसे देखो तो जिसको सुशील कहते हैं वह भी कुशील है क्योंकि संसारमें ही रखनेवाला है। पुण्यका उदय जबतक रहता है तबतक कर्मकी बेड़ी कटकर आत्मा स्वाधीन व निराकुल सुखी नहीं होता है। ऐसा जान आत्माधीन सच्चे सुखके लिये एक शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी योग्य है। शेष सर्व कषायका पसारा है जो स्वाधीनताका घातक, आकुलतारूप व बन्धका कारक है तथा संसाररूप है—एक शुद्धोपयोग ही मोक्ष रूप तथा मोक्षका कारण है इसलिये यही ग्रहण करने योग्य है ॥ ७६ ॥

इस तरह स्वतन्त्र चार गाथाओंसे प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे व्यवहारनयसे ये पुण्यकर्म देवेन्द्र चक्रवर्ती आदिके पद देते हैं इसलिये उनकी प्रशंसा करते हैं सो इसलिये बताते हैं कि आगे इन्हीं उत्तम फलोंके आधारसे तृष्णाकी उत्पत्तिरूप दुःख दिखाया जायगा।

कुलिसाउहचक्कधरा, सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं, करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥७७॥

कुलिशायुधचक्रधरा शुभोपयोगात्मकैः भोगैः ।
देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरता ॥ ७७ ॥

सामान्यार्थ-सुखियोंके समान रति करते हुए इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदिक शुभ उपयोगके फलसे उत्पन्न हुए भोगोंके द्वारा शरीर आदिकी वृद्धि करते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(कुलिसाउहचक्कधरा) देवेन्द्र चक्रवर्ती आदिक (सुहिदा इव अभिरदा) मानों सुखी हैं ऐसे आशक्त होते हुए(सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं) शुभोपयोगके द्वारा पैदा हुए व प्राप्त हुए भोगोंसे विक्रिया करते हुए (देहादीण) शरीर परिवार आदिकी (विद्धिं करेंति) बढ़ती करते हैं। यहां यह अर्थ है कि जो परम अतिशयरूप तृप्तिको देनेवाला विषयोंकी तृष्णाको नाश करनेवाला स्वाभाविक सुख है उसको न पाते हुए जीव जैसे जोंकें विकारवाले खूनमें आशक्त हो जाती हैं वैसे आशक्त होकर सुखाभासमें सुख जानते हुए देह आदिकी वृद्धि करते हैं। इससे यह जाना जाता है कि उन इन्द्र व चक्रवर्ती आदि बड़े पुण्यवान जीवोंके भी स्वाभाविक सुख नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बड़े २ इन्द्र व चक्रवर्ती आदि जीवोंकी अवस्था बताई है कि इन जीवोंने पूर्व भवमें शुभोपयोगके द्वारा बहुत पुण्य बंध किया था जिससे ये ऊंचे पदमें आए तथा पुण्यके उदयसे मनोज्ञ इन्द्रियोंके विषय प्राप्त किये। अब वे अज्ञानसे ऐसा जानकर कि इन विषयोंके भोगसे सुख होगा उन पदार्थोंमें आशक्त होकर उनको भोग लेते हैं, परन्तु इससे उनकी विषयचाह शांत नहीं होती, क्षणिक कुछ बाधा कम हो जाती है उसको ये अज्ञानी जीव सुख मान लेते हैं, परन्तु पीछे और अधिक तृष्णामें पड़कर चिंतावान हो जाते हैं।

इस बातपर लक्ष्य नहीं देते। वास्तवमें जिसको सुख माना है वह उल्टा दु:खदाई हो जाता है। जैसे जोंक जंतु अज्ञानसे मलीन व हानिकारक रुधिरको आशक्त हो पान करती है, वह यह नहीं देखती है कि इससे मेरा नाश होगा व दु:ख अधिक बढ़ेगा। ऐसे ही विषयाशक्त जीवोंकी दशा जाननी।

इन्द्र या चक्रवर्ती आदि देव या खास मनुष्योंमें शरीरमें विक्रिया करनेकी शक्ति होती है वे विषयदाहकी दाहमें अधिक इच्छावान होकर एक शरीरके अनेक रूप बना लेते व अपने देवी आदि परिवारकी सख्या विक्रियाके द्वारा बढा लेते हैं। वे अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं तौभी तृप्तिको न पाकर दु:खी ही रहते हैं। कहनेका मतलब यह है विषयोंका सुख चक्रवर्ती आदिको भी तृप्त नहीं कर सक्ता तो सामान्य मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? असलमें परमहित रूप आत्मीकसुख ही है। ऐसा जान इसी सुखके लिये निरंतर स्वानुभवका अभ्यास रखना योग्य है ॥७७॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि पुण्यकर्म जीवोंमें विषयकी तृष्णाको पैदा कर देते हैं—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥७८॥

यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि।
जनयन्ति विषयतृष्णां जीवानां देवतान्तानाम् ॥ ७८ ॥

सामान्यार्थ-यदि शुभ परिणामोंसे उत्पन्न नाना प्रक

रके पुण्यकर्म होते हैं तथापि वे स्वर्गवाले देवताओं तकके जीवोंके
यकी तृष्णाको पैदा कर देते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदि हि) यद्यपि निश्चय करके (परिणामसमुब्भवाणि) विकार रहित स्वसंवेदन भावसे विलक्षण शुभ परिणामोंके द्वारा पैदा होनेवाले (विविहाणि पुण्णाणि सदि) अपने अनन्तभेदसे नाना तरहके तथा पुण्य व पापसे रहित परमात्मासे विपरीत पुण्य कर्म होते हैं तथापि वे (देवदत्ताण जीवाण) देवता तकके जीवोंके भीतर (विसयतण्ह) विषयोंकी चाहको (जणयंति) पैदा कर देते हैं। भाव यह है कि ये पुण्य कर्म उन देवेन्द्र आदि बहिर्मुखी जीवोंके भीतर विषयकी तृष्णा बढ़ा देते हैं। जिन्होंने देखे, सुने अनुभए भोगोंकी इच्छारूप निदान बन्धको आदि लेकर नाना प्रकारके मनोरथरूप विकल्प जालोंसे रहित जो परमसमाधि उससे उत्पन्न जो सुखामृतरूप तथा सर्व आत्माके प्रदेशोंमें परम आल्हादको पैदा करनेवाली एक आकार स्वरूप परम समरसी भावमई और विषयोंकी इच्छारूप अग्निसे पैदा होनेवाली जो परमदाह उसको शांत करनेवाली ऐसी अपने स्वरूपमें तृप्तिको नहीं प्राप्त किया है। तात्पर्य यह है कि जो ऐसी विषयोंकी तृष्णा न होवे तो गदे रुधिरमें जोकोंकी आशक्तिकी तरह कौन विषयभोगोंमें प्रवृत्ति करे?। और जब वे बहिर्मुखी जीव प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं तब अवश्य यह मालूम होता है कि पुण्यकर्म ही तृष्णाको पैदा कर देनेसे दुःखके कारण हैं।

भावार्थ-यहां आचार्यने पुण्यकर्मको व उसके कारण

शुभोपयोगको तथा उसके फल इंद्रिय सुखको त्यागने योग्य बताया है, मुख्यतासे संकेत पुण्य कर्मकी तरफ है। पुण्यकर्म शुभोपयोगके द्वारा नानाप्रकार साता वेदनीय, शुभनाम, शुभगोत्र तथा शुभ आयुके रूपमें बंधजाता है जिसके फलसे मनोहर साता रूप बाहरी सामग्री, मनोहर शरीरका रूप, माननीय कुल तथा अपनेको रुचनेवाली आयु प्राप्त होती है। भोगभूमिके तिर्यंच तथा मनुष्य पुण्य कर्मसे ही होते हैं। कर्मभूमिमें बहुतसे पशु तथा मनुष्य साताकारी सामग्री प्राप्तकर लेते हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी देवोंके भी पुण्यफलसे बहुत मनोज्ञ देह देवी आदि सामग्री होती है। सबसे अधिक साताकी सामग्री देवेन्द्र तथा चक्रवर्ती नारायण प्रति नारायण आदि पदवीधारियोंके होती है। इनमें जो जीव सम्यग्दृष्टी ज्ञानी होते हैं उनके परिणामोंमें ये सामग्री यद्यपि चारित्रकी अपेक्षा कषायके उदयसे राग पैदा करानेमें निमित्त होती है तथापि श्रद्धानकी अपेक्षा कुछ विकार नहीं करती है। परन्तु जो मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा आत्मज्ञान रहित जीव होते हैं उनके परिणामोंमें बाहरी सामग्री उसी तरह विषयकी तृष्णाको बढ़ा देती है जिस तरह ईंधनको पाकर अग्नि अपने स्वरूपको बढ़ा देती है। इस तरह मोह रागद्वेषकी वृद्धि करनेमें बाहरी पदार्थ निमित्त कारण हैं। यह क्षेत्रादि बाहरी परिग्रह जब सम्यग्दृष्टियोंके भीतर भी रागादि भावोंके जगानेमें निमित्त कारण है तब मिथ्यादृष्टियोंकी तो बात ही क्या कहनी—बड़े २ क्षायिक सम्यक्ती तीर्थंकर भी इस बाहरी परिग्रहके निमित्तसे त्यागरूप परिणतिको पूर्णपने नहीं कर सके। यही कारण है जिस

वास त्याग परिग्रह भारको पटक निर्मम वनमें जाकर आत्मध्यान करते हैं। अतरग रागादि व मूर्छारूप परिग्रह भावके लिये बाहरी क्षेत्रादि निमित्त कारणरूप नोकर्म हैं इसीसे उपचारसे क्षेत्रादिको भी परिग्रहके नामसे कहाजाता है। अज्ञानी जीव पुण्यके उदयसे चक्री होकर भी घोर उन्मत्त होकर घोर पाप बाध लेते हैं और सातवें नर्क तक चले जाते हैं। इसलिये मुख्यतासे ये पुण्य कर्म अज्ञानियोंके भीतर विषयोंकी दाहको बहुत ही बढानेमें प्रबल निमित्त पड जाते हैं। जिस कारणसे मनोज्ञ सामग्री रहते हुए भी वे अधिक अधिक सामग्री की चाहमें पड़कर उसके लिये आकुलित होते हैं यहातक कि अन्याय प्रवृत्ति भी करलेते हैं। सम्यग्दृष्टी जीव बाहरी सामग्रीसे इतना नहीं भूलते जो वस्तुके स्वरूपको न ध्यानमें रक्खें किंतु वे भी कषायोंके उदयके प्रमाण रागी द्वेषी हो ही जाते हैं–वे भी प्रवृत्ति मार्गमें स्त्री, धन, पुत्री आदिमें राग करलेते व उनकी वृद्धि व रक्षा करलो चाह करते हैं। इस तरह यह सिद्ध है कि पुण्यकर्म अतरग चाहकी दाहको भडकानेमें प्रबल निमित्त सामने रख देते हैं, यदि ऐसा न हो तो कोई भी विषयभोगोंमें रति न करे। इसलिये ये पुण्यकर्म भी संसार बढानेके कारण होजाते हैं अत ग्रहणकरनेयोग्य नहीं हैं। तब जिस शुभ उपयोगसे पुण्यकर्मका बध होता है वह भी उपादेय नहीं है। उपादेय एक शुद्धोपयोग है जो कर्मोका नाशक है, विषयदाहको शातिकारक है तथा निजानन्दका प्रवर्तक है इसलिये इसकी ही भावना निरतर कर्तव्य है, यह भाव है॥ ७८॥

उत्थानिका-आगे पुण्यकर्म दु:खके कारण हैं इसी ही पूर्वके भावको विशेष करके समर्थन करते हैं।

ते पुण उदिण्णतण्हा, दुहिदा तण्हाहिं विसयसो-क्खाणि।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥७९॥

ते पुनरुदीर्णतृष्णा दु:खितास्तृष्णाभिर्विषयसौख्यानि ।
इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरणं दु:खसंतप्ता ॥ ७९ ॥

सामान्यार्थ- वे पुण्यकर्म भोगी फिर भी तृष्णाको बढ़ाए हुए चाहकी दाहोंसे घबड़ाए हुए इंद्रिय विषयके सुखोंको मरण-पर्यंत दु:खसे जलते हुए चाहते रहते और भोगते रहते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ- (पुण) तथा फिर (ते) वे सर्व संसारी जीव (उदिण्णतण्हा) स्वाभाविक शुद्ध आत्मामें तृप्तिको न पाकर तृष्णाको बढ़ाए हुए (तण्हाहिं दुहिदा) स्वसंवेदनसे उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख उसके अभावसे अनेक प्रकारकी तृष्णासे दु:खी होते हुए व (आमरण दुक्खसंतत्ता) मरणपर्यंत दु:खोंसे संतापित रहते हुए (विसयसोक्खानि) विषयोंसे रहित परमात्माके सुखसे विलक्षण विषयके सुखोंको (इच्छंति) चाहते रहते हैं (अणुहवंति य) और भोगते रहते हैं। यहां यह अर्थ है कि जैसे तृष्णाकी तीव्रतासे प्रेरित होकर जोंक जंतु खराब रुधिरकी इच्छा करती है तथा उसको पीती है इस तरह करती हुई मरण पर्यंत दु:खी रहती है अर्थात् खराब रुधिर पीते पीते उसका मरण हो जाता है परन्तु तृष्णा नहीं मिटती है वैसे

शुद्ध आत्माके अनुभवको न पानेवाले जीव भी जैसे मृग तृषातुर होकर वारवार माडलीमें जल जान जाता है, पर तु तृषा न बुझा कर दु खी ही रहता है। इसी तरह विषयोंको चाहते तथा अनुभव करते हुए मरणपर्यंत दु खी रहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि तृष्णारूपी रोगको पैदा करनेके कारणसे पुण्यकर्म वास्तवमें दु खके ही कारण हैं।

भावार्थ-इस गाथामें फिर भी आचार्यने पहली बातको समर्थन किया है। ससारमें मिथ्यादृष्टी जीवोंके तृष्णाको उत्पन्न करनेवाला तीव्र लोभका सदा ही उदय रहता है। जहां निमित्त बाहरी पदार्थोंका नहीं होता है वहा यह तीव्र लोभका उदय बाहरी कार्योंके द्वारा प्रगट नहीं होता है, परन्तु जहा निमित्त होता है व निमित्त मिलता जाता है वहा यह लोभ तृष्णाके नामसे प्रगट होता है। पुण्यकर्मके उदयसे जब बाहरी पदार्थ इंद्रियोंके विषयभोग योग्य प्राप्त हो जाते हैं तब यह लोभी जीव उनमें अतिशय तन्मय हो जाता है और उन सामग्रियोंकी स्थितिको चाहते हुए भी और अधिक विषयभोगोंकी चाह करलेता है, उस चाहके अनुसार पदार्थोंके सम्बध मिलानेके लिये अनेक प्रकारके यत्न करता है जिसके लिये अनेक कष्टोंको सहता है। जब कदाचित् पुण्यके उदयसे इच्छित पदार्थ मिल जाते हैं तब उनको भोगकर क्षणिक सुख मानलेता है परतु फिरभी अधिक तृष्णा बढा लेता है। उस बढी हुई तृष्णाके अनुसार फिर भी नवीन सामग्रीका सम्बन्ध मिलानेका य करता है। यदि इच्छित पदार्थ नहीं मिलते हैं तो महा

दुःखी होता है, यदि कदाचित मिलजाते हैं तो उनको भी भोगकर अधिक तृष्णाको बढ़ा लेता है। इस तरह यह संसारी जीव पिछले प्राप्त पदार्थोंकी रक्षा व नवीन विषयोंके संग्रहमें रातदिन लगा रहता है। ऐसा ही उद्यम करते करते अपना जीवन एक दिन समाप्त कर देता है परंतु विषयोंकी दाहको कम नहीं करता हुआ उलटा बढ़ाता हुआ उसकी दाहसे जलता रहता है। यदि इष्ट पदार्थोंका सम्बन्ध छूट जाता है तो उनके वियोगमें क्लेशित होता है। चीटियोंके भीतर तृष्णाका दृष्टांत अच्छी तरह दिखता है। वे रात दिन अनाजका बहुत बड़ा समूह एकत्र कर लेती हैं और इसी लोभके प्रकट कार्यमें अपना जन्म शेष करदेती हैं। मिथ्यादृष्टी संसारी जीव विषयभोगको ही सुखका कारण, श्रद्धान करते व जानते हुए इस अज्ञान जनित मोहसे रातदिन व्याकुल रहते हुए जैसे एक जन्मकी यात्राको बिताते हैं वैसे अनन्त जन्मोंकी यात्राको समाप्त कर देते हैं। अभिप्राय यह है कि पुण्य कर्मोंके उदयसे भी सुख शांति प्राप्त नहीं होती है किंतु वे भी संसारके दुःखोंके कारण पड जाते हैं। ऐसा जान पुण्यके उदयको व उसके कारण शुभोपयोगको कभी भी उपादेय नहीं मानना चाहिये। एक आत्मीक आनन्दको ही हितकारी जानकर उसीके लिये नित्य साम्यभावकी भावना करनी योग्य है। टीकाकारने भी जोंक जतुका दृष्टांत दिया है वह बहुत उचित है। कारण वे खराब खूनको इतनी प्यासी होती हैं कि जितना वे इस खूनको पीती हैं उतनी ही अधिक तृष्णाको बढ़ा लेती हैं और फिर २ उसीको पीती चली जाती हैं यहां तक कि खून विकार अपना असर करता है और वे मर जाती हैं। यही

अवस्था संसारी प्राणियोंकी है कि वे विषयकी चाहमें जलते हुए मर जाते हैं। इसलिये पुण्य कर्मको दुःखका कारण जानकर उससे विराग भजना चाहिये ॥ ७९ ॥

उत्थानिका-आगे फिर भी पुण्यसे उत्पन्न जो इन्द्रिय सुख होता है उसको बहुत प्रकारसे दुःखरूप प्रकाश करते हैं-

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तथा ॥८०॥

सपरं बाधासहितं विच्छिन्नं बंधकारणं विषमम्।
यदिन्द्रियैर्लब्धं तत्सौख्यं दुःखमेव तथा ॥ ८० ॥

सामान्यार्थ-जो इन्द्रियोंके द्वारा सुख प्राप्त होता है वह पराधीन है बाधा सहित है, नाश होनेवाला है, कर्मबंधका बीज है, आकुलता रूप है इसलिये यह सुख दुःख रूप ही है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जं) जो संसारीक सुख (इंदिएहिं लद्धं) पांचों इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है (तं सोक्खं) वह सुख (सपरं) परद्रव्यकी अपेक्षासे होता है इसलिये पराधीन है, जब कि पारमार्थिक सुख परद्रव्यकी अपेक्षा न रखनेसे आत्माके आधीन स्वाधीन है। इन्द्रियसुख (बाधासहिदं) तीव्र क्षुधा तृषा आदि अनेक रोगोंका सहकारी है, जब कि आत्मीकसुख सर्व बाधाओंसे रहित होनेसे अव्याबाध है। इन्द्रिय सुख (विच्छिण्णं) साताका विरोधी जो असाता वेदनीयकर्म उसके उदय सहित होनेसे नाशवत तथा अंतर सहित होनेवाला है, जब कि अतीन्द्रिय सुख असाताके उदयके न होनेसे निरन्तर

सदा विना अन्तर पड़े व नाशहुए रहनेवाला है। इंद्रिय सुख (बन्धकारण) देखे, सुने, अनुभवकियेहुए भोगोंकी इच्छाको आदि लेकर अनेक खोटे ध्यानके आधीन होनेसे भविष्यमें नरक आदिके दुःखोंको पैदा करनेवाले कर्मबन्धको बाधनेवाला है अर्थात् कर्मबंधका कारण है, जबकि अतींद्रिय सुख सर्व अपध्यानोंसे शून्य होनेके कारणसे बंधका कारण नहीं है। तथा (विसम) यह इंद्रियसुख परम उपशम या शातभावसे रहित तृप्तिकारी नहीं है अथवा हानि वृद्धिरूप होनेसे एकसा नहीं चलता किन्तु विसम है, जब कि अतींद्रिय सुख परम तृप्तिकारी और हानि वृद्धिसे रहित है, (तधा दुक्खमेव) इसलिये यह इंद्रिय सुख पाच विशेषण सहित होनेसे दुःखरूप ही है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने इंद्रियजनित सुखको बिलकुल दुःखरूप ही सिद्ध किया है। वास्तवमें जिसका फल बुरा वह वस्तु वर्तमानमें अच्छी मालूम होनेपर भी कामकी नहीं है। यदि कोई फल खानेमें मीठा हो परन्तु रोग पैदा करनेवाला हो व मरण देनेवाला हो तो वह फल अनिष्ट कहलाता है बुद्धिमान लोग ऐसे फलको कभी भी ग्रहण नहीं करते। यही बात इंद्रिय सुखके साथ सिद्ध होती है। इन्द्रियोंके भोगसे जो स्पर्शके द्वारा, स्वादके द्वारा, सूंघनेके द्वारा, देखनेके द्वारा तथा सुननेके द्वारा सुख प्रगट होता है वह सुख वास्तवमें सुख नहीं है किन्तु सुखसा मालूम होता है। वह तो असलमें दुःख ही है क्योंकि इसमें नीचे लिखे पाच दोष हैं। पहला दोष यह है कि वह पराधीन है क्योंकि ...

विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियां काम करने योग्य ठीक न हों व जबतक इच्छित पदार्थ भोगनेमें न आवे तबतक इंद्रिय सुख पैदा नहीं होता है। यदि दोनोंमें एककी कमी होगी तो यह सुखाभास भी नहीं भासेगा किन्तु उल्टा दुःखरूप ही झलकेगा। बड़ी भारी पराधीनता इस सांसारिक सुखमें है। इन्द्रियें ठीक होने पर भी व चेतन व अचेतन पदार्थ रहने पर भी यदि पर पदार्थोंका परिणमन या वर्तन भोगनेवालेके अनुकूल नहीं होता है तो यह सुख नहीं मिलता है। इससे भी बड़ी भारी पराधीनता है। दूसरा दोष यह है कि यह बाधाओंसे पूर्ण है। जबतक चाहे हुए पदार्थ नहीं मिलते हैं तबतक उनके संयोग मिलानेके लिये बहुत ही कष्ट उठाना पड़ता है। यदि पदार्थ मिल जाते हैं और वे अपनी इच्छाके अनुसार नहीं वर्तन करते हैं तो इस मोही जीवको बड़ा कष्ट होता है और कदाचित् वे नष्ट हो जाते हैं तो उनके वियोगसे दुःख होता है इसलिये ये इंद्रियसुख बाधाओंसे पूर्ण हैं। तीसरा दोष यह है कि यह इन्द्रियजनित सुख नाश होजाता है क्योंकि यह साता वेदनीय कर्मके आधीन है, जिसका उदय बहुत कालतक नहीं रहता है। साताके पीछे असाताका उदय हो जाता है जिससे सांसारिक सुख नष्ट हो जाता है। अथवा अपनी शक्ति नष्ट हो जाती है व पदार्थ नष्ट हो जाता है अथवा इस इंद्रिय विषयको भोगते हुए उपयोग बदलता जाता है। चौथा दोष यह है कि यह इन्द्रियजनित सुख कर्मबंधका कारण है क्योंकि इस सुखके भोगमें तीव्र रागकी प्रवृत्ति होती है। जहां तीव्र विषयोंका राग है वहां अवश्य अशुभ कर्मका बंध होता है।

पाचमा दोष यह है कि इस इंद्रियसुखके भोगमें समताभाव नहीं रहता है एक विषयको भोगते हुए दूसरे विषयकी कामना हो जाती है अथवा यह सुख एकसा नहीं रहता है—हानि वृद्धिरूप है। इस तरह इन पांचों दोषोंसे पूर्ण यह इंद्रियसुख त्यागने योग्य है। अनन्तकाल इस संसारी प्राणीको पांचों इन्द्रियोंको भोगते हुए बीता है परन्तु एक भी इन्द्री अभीतक तृप्त नहीं हुई है। जैसे समुद्र कभी नदियोंसे तृप्त नहीं होता है वैसे कोई भी प्राणी विषयभोगोंसे तृप्त नहीं होता। इसलिये यह सुख वास्तवमें सुखदाई व शांतिकारक नहीं है। जबकि आत्माके स्वभावके अनुभवसे जो अतींद्रियसुख पैदा होता है वह इन पांचों दोषोंसे रहित तथा उनके विरोधी गुणोंसे परिपूर्ण है। आत्मीकसुख स्वाधीन है क्योंकि वह अपने ही आत्माके द्वारा अनुभवमें आता है उसमें पर वस्तुके ग्रहणकी जरूरत नहीं है किन्तु परवस्तुका त्याग होना ही इस सुखानुभवका कारण है। आत्मिक सुख सर्व बाधाओंसे रहित अव्याबाध तथा निराकुल है। इस सुखको भोगते हुए न आत्मामें कोई कष्ट होता है न शरीरमें कोई रोग होता है। उल्टा इसके इस सुखके भोगसे आत्मा और शरीर दोनोंमें पुष्टि आती है, आत्माका अन्तरायकर्म हटता है जिससे आत्मवीर्य बढ़ता है। परिणामोंमें शांति शरीर रक्षक जब कि अशांति शरीर नाशक है। यह प्रसिद्ध है कि चिंता चिता समान, क्रोप दावाग्नि समान शरीरके रुधिरादिको जला देते हैं। इससे स्वरूपके अनुभवसे शरीर स्वास्थ्ययुक्त रहता है। आत्मीकसुख कर्मबन्धका कारण न होकर कर्मबन्धके नाशका बीज है, क्योंकि आत्मानुभवमें जो वीतरागता

होती है वही कर्मोंकी सत्ताको आत्मामेंसे हटाती है। अतींद्रिय सुख आत्माका स्वभाव है इसलिये अविनाशी है। यद्यपि स्वानुभवी छद्मस्थ जीवोंके धारावाही आत्मसुख नहीं स्वादमें आता तथापि वह स्वाधीन होनेसे नाशरहित है। धारावाही स्वाद न आनेमें बाधक कषाय है। सुखका स्वरूप नाशरूप नहीं है। तथा आत्मिकसुख समता रूप है। जितनी समता होगी उतना ही इस सुखका स्वाद आवेगा। इस सुखके भोगमें आकुलता नहीं है न यह अपनी जातिको बदलता है। यह सुख तो परमतृप्ति तथा सतोषको देनेवाला है। ऐसा जान आत्मजन्य सुखको ही सुख जानना चाहिये और इंद्रिय सुखको बिलकुल दु ख रूप ही मानना चाहिये। इससे यह सिद्ध किया गया है कि जिस पुण्यके उदयसे इंद्रिय सुख होता है उस पुण्यका कारण जो शुभोपयोग है वह भी हेय है। एक साम्यभावरूप शुद्धोपयोग ही ग्रहण करने योग्य है।

इस तरह जीवके भीतर तृष्णा पैदा करनेका निमित्त होनेसे यह पुण्यकर्म दु खके कारण है ऐसा कहते हुए दूसरे स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुई ॥ ८० ॥

उत्थानिका-आगे निश्चयसे पुण्य पापमें कोई विशेष नहीं है ऐसा कहकर फिर इसी व्याख्यानको सकोचते हैं-

ण हि मण्णदि जो एवं, णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं
हिंडदि घोरमपारं, संसारं मोहसंछण्णो ॥ ८१ ॥

न हि मन्यते य एव नास्ति विशेष इति पुण्यपापयो ।
हिण्डति घोरमपार संसार मोहसच्छन्न ॥ ८१ ॥

सामान्यार्थ-पुण्य और पापकर्ममें भेद नहीं है ऐसा जो निश्चयसे नहीं मानता है वह मोहकर्मसे ढका हुआ भयानक और अपार संसारमें भ्रमण करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(पुण्णपावाण णत्थि विसेसोत्ति) पुण्य पापकर्ममें निश्चयसे भेद नहीं है (जो एव णहि मण्णदि) जो कोई इस तरह नहीं मानता है (मोहसछण्णो) वह मोहकर्मसे आच्छादित जीव (घोर अवार ससार हिंडदि) भयानक और अभव्यकी अपेक्षासे अपार ससारमें भ्रमण करता है। मतलब यह है कि द्रव्य पुण्य और द्रव्य पापमें व्यवहार नयसे भेद है, भाव पुण्य और भाव पापमें तथा पुण्य पापके फल रूप सुख दुःखमें अशुद्ध निश्चयनयसे भेद है। परंतु शुद्ध निश्चयनयसे ये द्रव्य पुण्य पापादिक सब शुद्ध आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं इसलिये इन पुण्य पापोंमें कोई भेद नहीं है। इस तरह शुद्ध निश्चयनयसे पुण्य व पापकी एकताको जो कोई नहीं मानता है वह इन्द्र, चक्रवर्ती, वलदेव, नारायण, कामदेव आदिके पदोंके निमित्त निदान बन्धसे पुण्यको चाहता हुआ मोह रहित शुद्ध आत्मतत्त्वसे विपरीत दर्शनमोह तथा चारित्र मोहसे ढका हुआ सोने और लोहेकी दो वेड़ियोंके समान पुण्य पाप दोनोंसे बंधा हुआ ससार रहित शुद्धात्मासे विपरीत ससारमें भ्रमण करता है।

भावार्थ-यहा आचार्यने शुद्ध निश्चयनयको प्रधानकर यह बतादिया है कि पुण्य और पापकर्ममें कोई भेद नहीं है। दोनों ही बन्धरूप हैं, पुद्गलमय हैं, आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं। आत्माका स्वभाव निश्चयसे शुद्ध दर्शन ज्ञान स्वरूप परम समता

भावमई है। कषायकी कालिमासे रहित है। शुभोपयोग यद्यपि व्यवहारमें शुभ कहा जाता है परन्तु वह एक कषायसे रगा हुआ ही भाव है। अशुभोपयोग जब तीव्र कषायसे रगा हुआ भाव है तब शुभोपयोग मंद कषायसे रगा हुआ भाव है। कषाय की अपेक्षा दोनों ही अशुद्धभाव हैं इसलिये दोनों ही एक रूप अशुद्ध हैं। इस ही तरहसे इन शुभ तथा अशुभ भावोंसे बंधा हुआ सातावेदनीयादि द्रव्य पुण्य तथा असाता वेदनीय आदि द्रव्य पाप भी यद्यपि सुवर्ण बेडी और लोहेकी बेड़ीके समान व्यवहार नयसे भिन्न २ हैं तथापि पुद्गल कर्मकी अपेक्षा दोनों ही समान हैं। ऐसे ही पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त सासारिक सुख तथा तथा पाप कर्मके उदयसे प्राप्त सासारिक दुःख यद्यपि साता असाताकी अपेक्षा भिन्न २ हैं तथापि निश्चयसे आत्माके स्वाभाविक आनन्दसे विपरीत होनेके कारण समान हैं। आत्माके शुद्धोपयोगको, उसकी अबंध अवस्थाको तथा अतींद्रिय आनन्दको जो परमानन्द उपादेय मानते हैं वे ही ससारसे पार होजाते हैं, परन्तु जो ऐसा नहीं मानते हैं वे मिथ्यात्वकर्मसे अज्ञानी रहते हुए शुभोपयोग, पुण्यकर्म तथा सासारिक सुखोंको उपादेय और अशुभोपयोग, पापकर्म तथा दुःखोंको हेय जानते हुए रागद्वेष भावोंमें परिणमन करते हुए इस भयानक ससारवनमें अनन्तकाल तक भटकते रहते हैं। उन जीवोंको पाच इन्द्रियमई सुख ही सुख भासता है, जिसके लिये वे तृषातुर रहते हैं और उस सुखकी प्राप्ति बाहरी पदार्थोंके सयोगसे होगी ऐसा जानकर चक्रवर्ती व इंद्र तकके ऐश्वर्यकी कामना किया करते हैं। इस निदानभावसे

वे द्रव्यलिंग धारकर मुनि धर्म भी पालते हैं तथापि प्रथम मिथ्या त्व गुणस्थानमें ही ठहरे हुए अनन्त संसारके कारण होते हैं। यहां आचार्यके कहनेका तात्पर्य यह है कि इन अशुद्ध भावोंसे तथा पुण्य पापकर्मोंसे आत्माको साम्यभावकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती है। अतएव इन सबसे मोह त्याग निज शुद्धोपयोग या साम्यभावमें भावना करनी योग्य है जिससे यह आत्मा अपने निज स्वभावका विलास करनेवाला हो जावे ॥ ८१ ॥

उत्थानिका-इस तरह ज्ञानी जीव शुभ तथा अशुभ उपयोगको समान जानकर शुद्धात्म तत्त्वका निश्चय करता हुआ संसारके दुःखोंके क्षयके लिये शुद्धोपयोगके साधनको स्वीकार करता है ऐसा कहते हैं -

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो, खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥८२॥

एवं विदितार्थो यो द्रव्येषु न रागमेति द्वेषं वा।
उपयोगविशुद्धः स क्षपयति देहोद्भवं दुःखं ॥ ८२ ॥

सामान्यार्थ-इस तरह पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाला जो कोई पर द्रव्यमें राग या द्वेष नहीं करता है वह शुद्ध उपयोगको रखता हुआ शरीरसे उत्पन्न होनेवाले दुःखका नाश करदेता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(एवं विदिदत्थो जो) इस तरह चिदानन्दमई एक स्वभावरूप परमात्म तत्वको उपादेय तथा इसके सिवाय अन्य सर्वको हेय जान करके हेयोपादेयके यथार्थ ज्ञानसे तत्व स्वरूपका ज्ञाता होकर जो कोई (दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा) अपने शुद्ध आत्मद्रव्य [illegible] भ तथा अशुभ सर्व

द्रव्योंमें राग द्वेष नहीं करता है। (सो उपओगविसुद्धो) वह रागादिसे रहित शुद्धात्माके अनुभवमई लक्षणके धारी शुद्धोपयोगसे विशुद्ध होता हुआ (देहुब्भवं दुःख खवेदि) देहके सयोगसे उत्पन्न दु खको नाश करता है। अर्थात् यह शरीर गर्मलोहेके पिंड समान है। उससे उत्पन्न दु खको जो निराकुलता लक्षणके धारी निश्चय सुखसे विलक्षण है और बड़ी भारी आकुलताको पैदा करनेवाला है, वह ज्ञानी आत्मा लोहपिंडसे रहित अग्निके समान अनेक चोटोंका स्थान जो शरीर उससे रहित होता हुआ नाश कर देता है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-यहां आचार्यने संसारके सर्व दु खोंके नाशका उपाय एक शुद्ध आत्मीकभाव है ऐसा प्रगट किया है। तथा बताया है कि जैसे गर्म लोहेकी संगतिमें अग्नि नाना प्रकारसे पीटे जानेकी चोटको सहती है उस ही तरह यह मोही जीव शरीरकी संगतिसे नाना प्रकारके दु खोंको सहता है। परन्तु जिसने इस देहको व उसके आश्रित पांचों इंद्रियोंको व उन इंद्रिय सम्बंधी पदार्थोंको तथा उनसे होनेवाले सुखको आकुलताका कारण, संसारका बीज तथा त्यागने योग्य निश्चय किया है और देह रहित आत्मा तथा उसकी वीतरागता और अतींद्रिय आनन्दको ग्रहण करने योग्य जाना है वही पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थ जाननेवाला है। ऐसा तत्वज्ञानी जीव निज आत्माके सिवाय सर्व पर द्रव्योंमें राग या द्वेष नहीं करता है किंतु उनको उनके स्वभावरूप समता भावसे जानता है वह निर्मल शुद्ध भावका धारी होता हुआ शुद्धोपयोगमें लीन रहता है। और इस आत्मध्यानकी

अग्निसे उन सर्व कर्मोंको ही भिन्न कर देता है जो संसारके दु खोंके बीज हैं। तात्पर्य यह है कि संसारकी पराधीनतासे मुक्त होकर स्वाधीन होनेके लिये यही उपाय श्रेष्ठ है कि निज शुद्ध आत्मामें ही श्रद्धान, ज्ञान तथा चर्या प्राप्त की जावे। लोहपिंडसे रहित अग्नि जैसे स्वाधीनतासे जलती हुई काठको जला देती है वैसे आत्माका शुद्ध उपयोग रागद्वेषसे रहित होता हुआ आठकर्मके काठको जला देता है और निजानंदके समुद्रमें मग्न होकर निज स्वाभाविक स्वाधीनताको प्राप्त कर लेता है। अतएव शुभ अशुभसे रागद्वेष छोड दोनोंको ही समान जानकर एक शुद्धोपयोगमई साम्यभावमें ही रमणता करनी योग्य है ॥८१॥

इस तरह संक्षेप करते हुए तीसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं। ऊपर लिखित प्रमाण शुभ तथा अशुभकी मूढ़ताको दूर करनेके लिये दश गाथाओं तक तीन स्थलोंके समुदायसे पहली ज्ञानकठिका पूर्ण हुई।

उत्थानिका-आगे पूर्व सूत्रमें यह कह चुके हैं कि शुभ तथा अशुभ उपयोगसे रहित शुद्ध उपयोगसे मोक्ष होती है। अब यहां दूसरी ज्ञानकठिकाके व्याख्यानके प्रारंभमें शुद्धोपयोगके अभावमें यह आत्मा शुद्ध आत्मीक स्वभावको नहीं प्राप्त करता है ऐसा कहते हुए उसही पहले प्रयोजनको व्यतिरेकपनेसे दृढ़ करते हैं-

चत्ता पावारंभ समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।
ण जहदि जदि मोहादी, ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं॥

त्यक्त्वा पापारंभ समुत्थितो वा शुभे चरित्रे।
न जहाति यदि मोहादीन् लभते न आत्मकं शुद्धं॥ ८२ ॥

सामान्यार्थ-पापके आरंभको छोड़कर वा शुभ चारित्रमें वर्तन करता हुआ यदि कोई मोह आदि भावोंको नहीं छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्माको नहीं पाता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(पावारंभ चत्ता) पहले गृहमें वास करना आदि पापके आरंभको छोड़कर (वा सुहम्मि चरियम्मि समुट्ठिदो) तथा शुभ चारित्रमें भलेप्रकार आचरण करता हुआ (जदि मोहादी ण जहदि) यदि कोई मोह, रागद्वेष भावोंको नहीं त्यागता है (सो अप्पग सुद्ध ण लहदि) सो शुद्ध आत्माको नहीं पाता है। इसका विस्तार यह है कि कोई भी मोक्षका अर्थी पुरुष परम उपेक्षा या वैराग्यके लक्षणको रखनेवाले परम सामायिक करनेकी पूर्वमें प्रतिज्ञा करके पीछे विषयोंके सुखके साधक जो शुभोपयोगकी परिणतियें हैं उनसे परिणमन करके अंतरंगमें मोही होकर यदि निर्विकल्प समाधि लक्षणमई पूर्वमें कहे हुए सामायिक चारित्रका अभाव होते हुए मोहरहित शुद्ध आत्मतत्त्वके विरोधी मोह आदिकोंको नहीं छोड़ता है तो वह जिन या सिद्धके समान अपने आत्मस्वरूपको नहीं पाता है।

भावार्थ-यहां आचार्यने यह बताया है कि परम सामायिक भाव ही आत्माकी शुद्धिका कारण है। जो कोई घरसे उदास होकर मुनिकी दीक्षा धारण करले और सब गृह सम्बन्धी पापके व्यापारोंको छोड़दे तथा साधुके पालने योग्य २८ मूलगुणोंको भली भांति पालन करे अर्थात् व्यवहार चारित्रमें वर्तन करने लग जावे परन्तु अपने अंतरंगसे संसार सम्बन्धी मोहको व विषयोंकी इच्छाको नहीं त्यागे तो वह शुद्ध उपयोगमई

वृत्त ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवन सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ ८ ॥

भाव यह है कि ज्ञानस्वभावसे वर्तन करना ही सदा ज्ञानरूप रहना है। क्योंकि ज्ञान स्वरूपमें वर्तन करना आत्म द्रव्यका स्वभाव है इसलिये यही मोक्षका कारण है। वास्तवमें शुभोपयोग मोक्षका कारण नहीं है। मोक्षका कारण शुद्धोपयोग है। अतएव सर्व विकल्प छोड़कर एक शुद्ध आत्माका ही अनुभव करना योग्य है इसी स्वात्मानुभवके द्वारा यह जीव शुद्ध स्वभावको प्राप्त कर लेता है ॥ ८३ ॥

उत्थानिका—आगे शुद्धोपयोगके अभावमें जिस तरहके जिन व सिद्ध स्वरूपको यह जीव नहीं प्राप्त करता है उसको कहते हैं—

तवसंजमप्पसिद्धो, सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो।
अमरासुरिंदमहिदो, देवो सो लोयसिहरत्थो ॥८४॥

तपःसंयमप्रसिद्धः शुद्धः स्वर्गापवर्गमार्गकरः।

संयम और प्राण संयमके बलसे अपने शुद्धात्मामें स्थिर होकर समतारसके भावसे परिणमना जो संयम इन दोनोंसे सिद्ध हुआ है, (सुद्धो) क्षुधा आदि अठारह दोषोंसे रहित शुद्ध वीतराग है, (सग्गापवग्गमग्गकरो) स्वर्ग तथा केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय लक्षणरूप मोक्ष इन दोनोंके मार्गका उपदेश करनेवाला है, (अमरासुरिंदमहिदो) उस ही पदके इच्छुक स्वर्गके व भवनत्रिकके इन्द्रों द्वारा पूज्यनीक है, तथा (लोयसिहरत्थो) लोकके अग्र शिखरपर विराजित है ऐसा जिन सिद्धका स्वरूप जानना योग्य है।

भावार्थ-यहां आचार्यने बताया है कि यह शुद्धोपयोगका ही प्रताप है जिसके बलसे श्री जिन सिद्ध परमात्माका स्वरूप प्राप्त होता है। श्री सिद्ध परमात्मा वास्तवमें कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। यही संसारी आत्मा जब निश्चयतप व निश्चय संयममें उपयुक्त होकर अभ्यास करता है तब आप ही कर्मोंके आवरणसे रहित हो अपनी शक्तिको प्रगट कर देता है। सर्व पर पदार्थोंकी इच्छाओंको त्यागकर निज शुद्ध स्वरूपमें लीन होकर ध्यानकी अग्निको जलाना तप है। तथा सर्व इन्द्रियोंके विषयोंको रोककर व मुनिके चारित्र द्वारा पृथ्वीकायिकादि छः कायके प्राणियोंका रक्षक होकर शुद्धात्मामें डटे रहना तथा साम्यभावमें परिणमना रागद्वेष न करना सो संयम है। इन तप संयमोंके द्वारा ही रागद्वेषादि भाव मल व ज्ञानावरणादि द्रव्य मल कट जाता है और यह आत्मा शुद्ध वीतराग जिन हो जाता है। तब अरहंत अवस्थामें स्वर्ग व मोक्षका कारण जो रत्नत्रय धर्म है उसका

उपदेश करता है तथा भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा कल्प वासी देवोंके इन्द्र जिनको किसी सांसारिक भावसे नहीं किन्तु उसी शुद्ध पदकी भावना करके पूजते हैं तथा जब अघातिया कर्मोंका भी अभाव हो जाता है तब वह देव शरीर त्याग ऊर्द्ध-गमन स्वभावसे ऊपर जाकर लोकाकाशके अंत ठहर जाते हैं तब उनको सिद्ध परमात्मा कहते हैं। सिद्ध अवस्थामें यह परमात्मा निरंतर स्वानुभूतिमें रमण करते रहते हैं। वहां न कोई चिंता है, न आकुलता है, न बाधा है। जिन आत्माओंके भीतर संसारकी वासनासे राग है वे शुभोपयोगमें ही रहते हुए संसारके ऊंच नीच पदोंमें भ्रमण किया करते हैं उनको आत्माका शुद्ध अवि नाशी सिद्ध पद कभी प्राप्त नहीं होता है। इसलिये तात्पर्य यह है कि इसी शुद्ध पदके लिये शुद्धोपयोगकी भावना करनी चाहिये। श्री समयसार कलशोंमें श्री अमृतचंद्राचार्यजीने कहा है—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकला सुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥१२॥

भाव यह है कि यह शुद्ध पद शुभ कर्मोंके द्वारा प्राप्त नहीं हो सक्ता। यह पद स्वाभाविक ज्ञानकी कला द्वारा ही सहजमें मिलता है इसलिये जगतके जीवोंको आत्मज्ञानकी कलाके बलसे इस पदके लिये सदा यत्न करना चाहिये ॥ ८४ ॥

उत्थानिका—आगे सूचना करते हैं कि जो कोई इस प्रकार निर्दोष परमात्माको मानते हैं, अपनी श्रद्धामें लाते हैं वे ही अविनाशी आत्मीक सुखको पाते हैं—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा, ते सोक्खं अक्खयं जंति॥ ८९

तं देवदेवदेवं यतिवरवृषभं गुरुं त्रिलोकस्य।
प्रणमंति ये मनुष्या: ते सौख्यं अक्षयं यांति॥ ८९ ॥

सामान्यार्थ-जो मनुष्य उस इन्द्रोंके देव महादेवको जो सर्व साधुओंमें श्रेष्ठ है व तीन लोकका गुरु है प्रणाम करते हैं वे ही अक्षय सुखको पाते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जे मणुस्सा) जो कोई भव्य मनुष्य आदिक (तं देवदेवदेवं) उस महादेवको जो देवोंके देव सौधर्म इन्द्र आदिक भी देव हैं अर्थात् उनके द्वारा आराधनाके योग्य है, (जदिवरवसहं) इंद्रियोंके विषयोंको जीतकर अपने शुद्ध आत्मामें यत्न करनेवाले यतियोंमें श्रेष्ठ जो गणधरादिक उनमें भी प्रधान है, तथा (तिलोयस्स गुरुं) अनन्तज्ञान आदि महान गुणोंके द्वारा जो तीनलोकका भी गुरु है (पणमंति) द्रव्य और भाव नमस्कारके द्वारा प्रणाम करते हैं तथा पूजते हैं व उसका ध्यान करते हैं (ते) वे उसकी सेवाके फलसे (अक्खयं सोक्खं जंति) परम्परा करके अविनाशी अतीन्द्रिय सुखको पाते हैं ऐसा सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ-यहां आचार्यने उपासकके लिये यह शिक्षा दी है कि जो जैसा भावे सो तैसा होजावे। अविनाशी अनंत अतींद्रिय सुखका निरंतर लाभ आत्माकी शुद्ध अवस्थामें होता है। उस अवस्थाकी प्राप्तिका उपाय यद्यपि साक्षात् शुद्धोपयोगमें तन्मय होकर निर्विकल्प समाधिमें वर्तन करना है तथापि परम्परायसे

इसका उपाय अरहत और सिद्ध परमात्मामें श्रद्धा जमाकर उनको नमस्कार करना, पूजन करना, स्तुति करना आदि हैं। यहा गाथामें पूज्यनीय परमात्माके तीन विशेषण देकर यह बतलाया है कि वह परमात्मा उत्कृष्ट देव हैं। जिनको भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषी व कल्पवासी देव नमन करते हैं ऐसे इन्द्र वे भी जिनकी सेवा करते हैं इसलिये वे ही सच्चे महादेव हैं। जो मोक्षके लिये साधु पद धार यतन करे उनको यति कहते हैं उनमें बडे श्री गणधर देव हैं। उनसे भी बड़े श्री परमात्मा हैं। इस विशेषणसे यह बतलाया है कि वे परमात्मा केवल इन्द्रोंसे ही आराधने योग्य नहीं हैं किन्तु उनकी भक्ति श्री गणधर आदि परम ऋषि भी करते हैं। तीसरे विशेषणसे यह बताया है कि उनमें ही तीन लोकके प्राणियोंकी अपेक्षा गुरुपना है क्योंकि जब तीन लोकके ससारी जीव अल्पज्ञानी व मद या तीव्र कषाययुक्त हैं तथा जन्ममरण सहित हैं तब वह परमात्मा अनतज्ञानी, वीतरागी तथा जन्ममरणादि दोष रहित हैं। प्रयोजन यह है कि आत्मार्थी पुरुषको अन्य ससारी रागी द्वेषी देवोंकी आराधना त्यागकर ऐसे ही अरहत व सिद्ध परमात्माका आराधन करना योग्य है ॥८५॥

उत्थानिका—आगे "चत्तापावारम्भ" इत्यादिसूत्रसे जो कहा जा चुका है कि शुद्धोपयोगके विना मोह आदिका नाश नहीं होता है और मोहादिके नाशके विना शुद्धात्माका लाभ नहीं होता है उस ही शुद्धात्माके लाभके लिये अब उपाय बताते हैं—

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८६

यो जानात्यर्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः ।
स जानात्यात्मानं मोहः खलु याति तस्य लयम् ॥८६॥

सामान्यार्थ-जो श्री अरहंत भगवानको द्रव्यपने, गुणपने व पर्यायपनेकी अपेक्षा जानता है सो ही आत्माको जानता है। उसी हीका मोह निश्चयसे नाशको प्राप्त हो जाता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जो) जो कोई (अरहंत) अरहंत भगवानको (दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं) द्रव्यपने, गुणपने, तथा पर्यायपनेकी अपेक्षा (जाणदि) जानता है (सो) वह पुरुष (अप्पाणं जाणदि) अर्हंतके ज्ञानके पीछे अपने आत्माको जानता है। तिस आत्मज्ञानके प्रतापसे (तस्स मोहो) उस पुरुषका दर्शन मोह (खलु लयं जादि) निश्चयसे क्षय हो जाता है। इसका विस्तार यह है कि अर्हंत आत्माके केवलज्ञान आदि विशेषगुण हैं। अस्तित्व आदि सामान्य गुण हैं। परम औदारिक शरीरके आकार जो आत्माके प्रदेशोंका होना सो व्यंजन पर्याय है। अगुरुलघुगुण द्वारा छ प्रकार वृद्धि हानिरूपसे वर्तन करनेवाले अर्थ पर्याय हैं। इस तरह लक्षणधारी गुण और पर्यायोंके आधाररूप, अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी, शुद्ध चैतन्यमई अन्वयरूप अर्थात् नित्यस्वरूप अरहंत द्रव्य है। इस तरह द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप अरहंत परमात्माको पहले जान कर फिर निश्चयनयसे उसी द्रव्यगुण पर्यायको आगमका सारभूत जो अध्यात्मभाषा है उसके द्वारा अपने शुद्ध आत्माकी भावनाके सन्मुख होकर अर्थात् विकल्प सहित स्वसंवेदन ज्ञानमें परिणमन करते हुए वैसे ही आगमकी भाषासे अध करण, अपूर्व

उसका उपाय अरहंत और सिद्ध परमात्मामें श्रद्धा जमाकर नमस्कार करना, पूजन करना, स्तुति करना आदि है। यहां पूज्यनीय परमात्माके तीन विशेषण देकर यह बतलाया है परमात्मा उत्कृष्ट देव हैं। जिनको भवनवासी, व्यंतर, व कल्पवासी देव नमन करते हैं ऐसे इन्द्र वे भी जि करते हैं इसलिये वे ही सच्चे महादेव हैं। जो मोक्षके पद धार यतन करे उसको यति कहते हैं उनमें बड़े देव हैं। उनसे भी बड़े श्री परमात्मा हैं। इस विशेष लाया है कि वे परमात्मा केवल इन्द्रोंसे ही आराध हैं किन्तु उनकी भक्ति श्री गणधर आदि परम हैं। तीसरे विशेषणसे यह बताया है कि उनमें ह प्राणियोंकी अपेक्षा गुरुपना है क्योंकि जब ती जीव अल्पज्ञानी व मंद या तीव्र कषाययुक्त हैं सहित हैं तब वह परमात्मा अनंतज्ञानी, वीतराग णादि दोष रहित हैं। प्रयोजन यह है कि अन्य संसारी रागी द्वेषी देवोंकी आराधना अरहंत व सिद्ध परमात्माका आराधन करना

उत्थानिका—आगे " चत्तापावारम्भ कहा जा चुका है कि शुद्धोपयोगके विना नहीं होता है और मोहादिके नाशके विना होता है उस ही शुद्धात्माके लाभके लिये

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुण

सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु

मोंकी प्राप्ति कहते हैं जिनके लाभके विना दर्शन मोहनीय कर्मका कभी क्षय नहीं होता है । इस तरह आत्मज्ञानके प्रतापसे मोहका क्षय होजाता है । मोहके उपशम होनेका भी यही प्रकार है । जब मोहका उपशम होता है तब उपशम सम्यक्त और जब मोहका नाश होता है तब क्षायिक सम्यक्त उत्पन्न होता है । अनुभव दो तरहका है एक भेदरूप दूसरा अभेदरूप । इस हारमें इतने मोती हैं इनकी ऐसी सफेदी है व ऐसी आभा है ऐसा अनुभव भेदरूप है । जब कि एक हार मात्रका विना विकल्पके अनुभव करना अभेदरूप है । वैसे ही आत्माके गुण ऐसे हैं उसमें पर्याय ऐसी हैं इस तरह भेदरूप अनुभव है और गुण पर्यायोंका विकल्प न करके एकाकार अभेदरूप आत्मद्रव्यके सन्मुख होकर लय होना अभेदरूप अनुभव है । यहां कर्ता कर्म, ध्याता ध्येयका विकल्प नहीं रहता है । इसीको स्वानुभव दशा कहते हैं । जब आत्मा मोह कर्मके उदयको बलात्कार छोड़ देता है और अपनेमें ही ठहर जाता है तब आश्रय रहित मोह नष्ट होजाता है । इस तरह मोहके जीतनेका उपाय है । ऐसा ही उपाय श्री अमृतचन्द्र आचार्यने समयसार कलशमें कहा है —

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यन्तः किलकोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

भाव यह है कि बुद्धिमान आत्मा यदि भूत, भविष्य, वर्तमान सर्वका ही बंधको एकदम छेद करके और मोहको बलपूर्वक

करण, अनिवृत्तिकरण नामके परिणामविशेषोंके बलसे जो विशेष भाव दर्शनमोहके क्षय करनेमें समर्थ है अपने आत्मामें जोड़ता है। उसके पीछे जब निर्विकल्प स्वरूपकी प्राप्ति होती है तब जैसे पर्याय रूपसे मोतीके दाने, गुणरूपसे सफेदी आदि अभेद नयसे एक हार रूप ही मालूम होते हैं तैसे पूर्वमें कहे हुए द्रव्यगुण पर्याय अभेद नयसे आत्मा ही है इस तरह भावना करते करते दर्शनमोहका अंधकार नष्ट होजाता है।

भावार्थ-यहां आचार्यने बतलाया है कि जो कोई चतुर पुरुष अरहंत भगवानकी आत्माको पहचानता है वह अवश्य अपने आत्माको जानता है। क्योंकि निश्चयनयसे अरहंतकी आत्मा और अपनी आत्मा एक है। उसके जाननेकी रीति यह है कि पहले यह मनन करे। जैसे अरहंत भगवानमें सामान्य व विशेष गुण हैं वैसे ही गुण मेरे आत्मामें हैं जैसे अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय अरहंत भगवानमें हैं वैसे अर्थ पर्याय और अपने शरीरके आकार आत्माके प्रदेशोंका बनि रूप व्यंजन पर्याय मेरे आत्मामें है। जैसे अरहंत अपने गुण पर्यायोंके आधाररूप असंख्यात प्रदेशी अमूर्तीक अविनाशी अखंड द्रव्य हैं वैसे मैं चैतन्यमई अखंड द्रव्य हूं। अपने भावोंमें इस तरह पुन पुन विचार करते हुए अपने भाव एकाएक अपने स्वरूपमें थिर होजाते हैं। अर्थात् विचारके समय सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान होता है, थिरताके समय निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान होजाता है। इस तरह बारबार अभ्यास किये जानेसे परिणामोंकी विशुद्धता बढ़ती है। इस विशुद्धताकी वृद्धिसे आगममें कारणरूप परिणा

जहदि) यदि शुद्धात्माके अनुभवरूपी लक्षणको धरनेवाले वीत-राग चारित्रके बाधक चारित्र मोहरूपी रागद्वेषोंको छोड़ देता है (सो सुद्ध अप्पाण लहदि) तब वह निश्चय अभेद रत्नत्रयमें परिणमन करनेवाला आत्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप आत्माको प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुक्त होजाता है। पूर्व ज्ञानकठिकामें "उवओग विसुद्धो सो खवेदि देहुब्भव दुक्ख" ऐसा कहा था यहां "जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाण लहदि सुद्ध" ऐसा कहा है। दोनोंमें ही एक मोक्षकी बात है इनमें विशेष क्या है। इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि वहां तो शुभ या अशुभ उपयोगको निश्चयसे समान जानकर फिर शुभसे रहित शुद्धोपयोगरूप निज आत्मस्वरूपमें ठहरकर मोक्ष पाता है इस कारणसे शुभ अशुभ सम्बन्धी मूढ़ता हटानेके लिये ज्ञानकठिकाको कहा है। यहां तो द्रव्य, गुण, पर्यायोंके द्वारा आप्त अरहतके स्वरूपको जानकर पीछे अपने शुद्ध आत्माके स्वरूपमें ठहरकर मोक्ष प्राप्त करता है। इस कारणसे यहां आप्त और कठिकाको कहा है इतना ही विशेष है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट रूपसे चारित्रको आवश्यकताको बता दिया है तथा वही भाव झलकाया है जिसको श्री समन्तभद्राचार्यने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारके इस में दिखलाया है। (नोट–यह आचार्य श्री कुन्दकुन्दके पीछे

…तिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान. ।
…निवृत्त्यै चरण प्रतिपद्यते साधु ॥ ४७ ॥

हटाके भीतर अभ्यास करता है तो उसके अंतरंगमें कर्म कलंकसे रहित अविनाशी आत्मानामा देव जिसकी महिमा एक आत्मानु भवसे ही मालूम पड़ती है प्रगट विराजमान रहा हुआ मालूम होता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग या साम्यभाव आत्मज्ञानसे ही होता है इसलिये आत्मज्ञानका नित्य अभ्यास करना योग्य है ॥ ८६ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि इस जगतमें प्रमादको उत्पन्न करनेवाला चारित्र मोह नामका चोर है ऐसा मानकर आप्त श्री अरहत भगवानके स्वरूपके ज्ञानसे जो शुद्धात्मारूपी चिंतामणिरत्न प्राप्त हुआ है उसकी रक्षाके लिये ज्ञानी जीव जागता रहता है।

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्म।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाण लहदि सुद्ध ॥८७

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवांस्तत्त्वमात्मन सम्यक्।
जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मान लभते शुद्धम् ॥ ८७ ॥

सामान्यार्थ–दर्शन मोहसे रहित जीव भले प्रकार आत्माके तत्वको जानता हुआ यदि रागद्वेषको छोड़ देवे तो वह शुद्ध आत्माको प्राप्त करे।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(ववगदमोहो जीवो) शुद्धात्म तत्वकी रुचिको रोकनेवाले दर्शन मोहको जिसने दूरकर दिया है ऐसा सम्यग्दृष्टी आत्मा (अप्पणो तच्च सम्म उवलद्धो) अपने ही शुद्ध आत्माके परमानंदमई एक स्वभावरूप तत्वको संशय आदिसे रहित भले प्रकार जानता हुआ (जदि रागदोसे

जहदि) यदि शुद्धात्माके अनुभवरूपी लक्षणको धरनेवाले वीत-राग चारित्रके बाधक चारित्र मोहरूपी रागद्वेषोंको छोड देता है (सो सुद्ध अप्पाणं ल्हदि) तब वह निश्चय अभेद रत्नत्रयमें परिणमन करनेवाला आत्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप आत्माको प्राप्त कर लेता है अर्थात मुक्त होजाता है। पूर्व ज्ञानकठिकामें "उवओग विसुद्धो सो खवेदि देहुब्भव दुक्ख" ऐसा कहा था यहां "जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाण ल्हदि सुद्ध" ऐसा कहा है। दोनोंमें ही एक मोक्षकी बात है इनमें विशेष क्या है। इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि वहा तो शुभ या अशुभ उपयोगको निश्चयसे समान जानकर फिर शुभसे रहित शुद्धोपयोगरूप निज आत्मस्वरूपमें ठहरकर मोक्ष पाता है इस कारणसे शुभ अशुभ सम्बन्धी मूढता हटानेके लिये ज्ञानकठिकाको कहा है। यहा तो द्रव्य, गुण, पर्यायोंके द्वारा आप्त अरहतके स्वरूपको जानकर पीछे अपने शुद्ध आत्माके स्वरूपमें ठहरकर मोक्ष प्राप्त करता है। इस कारणसे यहा आप्त और कठिकाको कहा है इतना ही विशेष है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट रूपसे चारित्रकी आवश्यकताको बता दिया है तथा वही भाव झलकाया है जिसको स्वामी समन्तभद्राचार्यने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारके इस श्लोकमें दिखलाया है। (नोट-यह आचार्य श्री कुन्दकुन्दके पीछे हुए हैं)।

श्लोक-मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान'।
रागद्वेषनिवृत्यै चरण प्रतिपद्यते साधु' ॥ ४७ ॥

सव्वे वि य अरहंता, तेण विधाणेण खविद
कम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं, णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥ ८८ ॥

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशाः।
कृत्वा तथोपदेशं निर्वृतास्ते नमस्तेभ्यः ॥ ८८ ॥

सामान्यार्थ-इसी रीतिसे कर्मोंका नाशकर सब ही अर्हंत हुए-तब वैसा ही उपदेश देकर वे निर्वाणको प्राप्त हुए इसलिये उनको नमस्कार हो।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तेण विधाणेण) इसी विधानसे जैसा पहले कहा है कि पूर्वमें द्रव्य, गुण, पर्यायोंके द्वारा अरहंतोंके स्वरूपको जानकर फिर उसी स्वरूप अपने आत्मामें ठहरकर अर्थात् पुन पुन आत्मध्यान करके (खविदकम्मंसा) कर्मोंके भेदोंको क्षय करके (सव्वे वि य अरहंता) सर्व ही अरहंत हुए (तधोवदेसं किच्चा) फिर वैसा ही उपदेश करके कि अहो भव्य जीवो! यही निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धात्माकी प्राप्ति रूप लक्षणको धरनेवाला मोक्षमार्ग है दूसरा नहीं है (ते णिव्वादा) वे भगवान निवृत्त होगए अर्थात् अक्षय अनंत सुखसे तृप्त सिद्ध हो गए (तेसिं णमो) उनको नमस्कार होहु। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य दे[illegible] इस तरह मोक्षमार्गका निश्चय करके अपने शुद्ध आत्माके अनुभ[illegible] स्वरूप मोक्षमार्गको और उसके उपदेशक[illegible] दोनों[illegible]
स्वरूपकी इच्छा करते हुए [illegible]
करते हैं-यह अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने अपना पक्का निश्चय प्रगट किया है कि कर्मोंको नाशकर शुद्ध मुक्त होनेका यही उपाय है कि पहले अरहत परमात्माके द्रव्य, गुण पर्यायको समझकर निश्चय लावे फिर उसी तरहका द्रव्य अपना है ऐसा निश्चयकर अपने शुद्ध स्वरूपको अनुभव करे। इसी स्वानुभवके द्वारा कर्मोंका नाश हो जाता है और यह भावनेवाला आत्मा स्वय अरहत परमात्मा हो जाता है। तब केवलज्ञान अवस्थामें उसी ही मोक्षमार्गका उपदेश करता है जिससे अपने आत्माकी शुद्ध की है। आयुकर्मके शेष होनेपर सर्व शरीरोंसे छूटकर सिद्ध परमात्मा होजाता है। इसी ही रूपसे पूर्वकालमें सर्व आत्माओंने मुक्तिपद पाया है। आज भी जो मोक्षमार्ग प्रगट है वह श्री महावीर भगवान अरहत परमात्माका उपदेश किया हुआ है। उसी उपदेशसे आज भी हम मोक्षको पहचान रहे हैं। ऐसा परम उपकार समझकर आचार्यने उन अरहतोंको पुन पुन नमस्कार किया है। तथा भव्य जीवोंको इस कथनसे प्रेरणा की है कि वे इसी रत्नत्रयमई मार्गका विश्वास लावें और उस मार्गके प्रकाशक अरहतोंके भीतर परम श्रद्धा रखके उनके द्रव्य गुण पर्यायको विचारकर उनकी भक्ति करें। उन समान अपने आत्म द्रव्यको जानकर अपने शुद्ध स्वरूपकी भावना करें। जो जैसी भावना करता है वह उस रूप हो जाता है। जो अरहत परमात्माका सच्चा भक्त है और तत्त्वज्ञानी है वह अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ कर लेता है। श्री तत्त्वानुशासनमें श्र नागसेन मुनिने कहा भी है –

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हः स्यात्स्वयं तस्मात् ॥ १९० ॥
येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥ १९१ ॥

भाव यह है कि यह आत्मा जिस भावसे परिणमन करता है उसी भावसे वह तन्मयी हो जाता है। श्री अरहंत भगवानके ध्यानमें लगा हुआ स्वयं उस ध्यानके निमित्तसे भावमें अरहंत रूप हो जाता है। आत्मज्ञानी जिस भावके द्वारा जिस स्वरूप अपने आत्माको ध्याता है उसी भावसे वह उसी तरह तन्मयता प्राप्त कर लेता है। जिस तरह स्फटिक पत्थरमें जैसी उपाधि लगती है उसी रूप वह परिणमन कर जाता है।

ऐसा जान अपने ज्ञानोपयोगमें शुद्ध आत्मस्वरूपकी सदा भावना करनी चाहिये-इसी उपायसे शुद्ध आत्मस्वरूपका लाभ होगा ॥ ८८ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जो पुरुष रत्नत्रयके आराधन करनेवाले हैं वे ही दान, पूजा, गुणानुवाद, प्रशंसा तथा नमस्कारके योग्य होते हैं, और कोई नहीं।

दंसणसुद्धा पुरिसा, णाणपहाणा समग्गचरियत्था।
पुज्जासक्काररिहा, दाणस्स य हि ते णमो तेसिं॥८८

दर्शनशुद्धाः पुरुषाः ज्ञानप्रधानाः समग्रचरित्रस्थाः ।
पूजासत्काराभ्यामर्हाः दानस्य च हि ते नमस्तेभ्यः ॥ ८८ ॥

सामान्यार्थ-जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हैं, ज्ञानमें

प्रधान हैं। तथा पूर्ण चारित्रके पालनेवाले हैं वे हा निश्चयसे पूजा सत्कार व दानके योग्य हैं, उनको नमस्कार होहु।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(दसणसुद्धा) अपने शुद्ध आत्माकी रुचिरूप सम्यग्दर्शनको साधनेवाले तीन मूढ़ता आदि पचीस दोष रहित तत्त्वार्थका श्रद्धानरूप लक्षणके धारी सम्यग्दर्शनसे जो शुद्ध हैं (णाणपहाणा) उपमा रहित स्वसंवेदन ज्ञानके साधक वीतराग सर्वज्ञसे कहे हुए परमागमके अभ्यासरूप लक्षणके धारी ज्ञानमें जो समर्थ हैं तथा (सम गचरिय आ) विकार रहित निश्चल आत्मानुभूतिके लक्षणरूप निश्चय चारित्रके साधनेवाले आचार आदि शास्त्रमें कहे हुए मूलगुण और उत्तरगुणकी क्रियारूप चारित्रसे जो पूर्ण हैं अर्थात् पूर्ण चारित्रके पालनेवाले (पुरिसा) जो जीव हैं वे (पूजासक्काररिहा) द्रव्य व भाव रूप पूजा व गुणोंकी प्रशंसारूप सत्कारके योग्य हैं, (दाणस्स य हि) तथा प्रगटपने दानके योग्य हैं। (णमो तेसिं) उन पूर्वमें कहे हुए रत्नत्रयके धारियोंको नमस्कार हो क्योंकि वे ही नमस्कारके योग्य हैं।

भावार्थ-आचार्यने इसके पहलेकी गाथामें सच्चे आप्तको नमस्कार करके यहां सच्चे गुरुको नमस्कार किया है। इस गाथामें बता दिया है कि जो साधु निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयके धारी हैं उनहीको अष्ट द्रव्यसे भाव सहित पूजना चाहिये, व उनहीकी प्रशंसा करनी चाहिये। उनहीका पूर्ण आदर करना चाहिये तथा उनहीको दान देना चाहिये व उनहीको नमस्कार करना चाहिये क्योंकि यह है कि उच्च आदर्श ही

हमारा हितकारी होसक्ता है। उनहीका भाव व आचरण हम उपासकोंको उस रूप वर्तन करनेकी योग्यता की प्राप्तिके लिये प्रेरणा करता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है। निश्चय नयसे शुद्ध आत्माकी रुचि सम्यक्त है। स्वसंवेदन ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। तथा शुद्ध आत्मामें तन्मयता सम्यक्चारित्र है। इनहीके साधने वाले व्यवहार रत्नत्रय हैं—पच्चीस दोष रहित तत्त्वोंका श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ वीतरागकी परम्परासे लिखित शास्त्र का अभ्यास व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। अट्ठाईस मूलगुण और उसके उत्तर गुणोंको पालना व्यवहार सम्यक्चारित्र है—निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके धारी निर्ग्रंथ साधु ही मोक्षमार्गमें आप चलते हुए भव्यजनोंको साक्षात् मोक्षका मार्ग दिखानेवाले होते हैं। जैन गृहस्थोंका मुख्य कर्तव्य है कि ऐसे साधुओंकी सेवा करें व साधुपद धारनेकी चेष्टामें उत्साही रहें। सूत्रका भी तात्पर्य यही है कि शुद्धोपयोग व साम्यभाव ही उपादेय है। इसीलिए कारण इस गुणके धारी पूज्यनीय होते हैं।

तत्त्वज्ञानी गुरुसे परम लाभ होता है वे ही पूज्यनीय हैं ऐसा श्री नागसेनदेवने अमृताशीतिमें कहा है—

> इगवगमलक्ष्य स्वस्य तत्त्व सारन्ता—
> न्नपाप निजदेहे देहिभिर्नोपलब्धम्।
> तदपि गुरुवचोभिर्बोध्यते तेन देवो
> गुरुरविगततत्त्वस्त तत पूजनीय ॥ ६० ॥

भाव यह है कि ज्ञानदर्शन लक्षणधारी अपना आत्मतत्त्व सब तरहसे अपनी देहमें प्राप्त है तथापि देहधारी उसको नहीं

पहचानते हैं तौ भी वह आत्मतत्त्व गुरुके वचनोंके द्वारा जाना जाता है इसलिये तत्त्वज्ञानी गुरुदेव निश्चयसे पूजने योग्य हैं।

इस तरह आप्त और आत्माके स्वरूपमें मूढ़ता या अज्ञानताको दूर करनेके लिये सात गाथाओंसे दूसरी ज्ञानकठिका पूर्ण की ॥ ८९ ॥

उत्थानिका–आगे शुद्ध आत्माके लाभके विरोधी मोहके स्वरूप और भेदोंको कहते हैं–

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति।
खुब्भदि तेणोच्छण्णो, पप्पा रागं व दोसं वा ॥९०॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति।
क्षुभ्यति तेनावच्छन्न प्राप्य रागं वा दोषं वा ॥ ९० ॥

सामान्यार्थ–शुद्ध आत्मा आदि द्रव्यके सम्बन्धमें जो अज्ञान भाव है वह जीवके मोह है ऐसा कहा जाता है। इस मोहसे ढका हुआ प्राणी राग या द्वेषको प्राप्त होकर आकुलित होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(दव्वादिएसु) शुद्ध आत्मा आदि द्रव्योंमें इन द्रव्योंके अनन्त ज्ञानादि व अस्तित्व आदि विशेष और सामान्य गुणोंमें तथा शुद्ध आत्माकी परिणतिरूप सिद्धत्व आदि पर्यायोंमें जिनका यथासंभव पहले वर्णन होचुका है व जिनका आगामी वर्णन किया जयगा इन सब द्रव्य गुण पर्यायोंमें विपरीत अभिप्राय रखके (मूढो भावो) तत्वोंमें संशयको उत्पन्न करनेवाला अज्ञानभाव (जीवस्स मोहोत्ति हवदि) इस संसारी जीवके दर्शन मो [illegible] तेणोच्छण्णो) इस दर्शन मोहसे आच्छा

अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी जो बहुत गाढ होता है व जिसकी वासना अनन्त कालतक चली जासक्ती है व जो मिथ्यात्वको बुलानेवाला व मिथ्यात्वको सहायक है। इस तरहके रागद्वेषमें पड़कर संसारी जीव रातदिन विषयोंके दास बने रहते है, उनका प्रत्येक शरीरका सर्व समय इष्ट पदार्थोंके सम्बन्ध मिलानेमें, अनिष्ट पदार्थोंके सम्बन्ध हटानेमें व इष्ट पदार्थोंके वियोग होनेपर दुःख करनेमें व नाना तरहके परको दुःखदाई अशुभ कर्मोंके विचार व आचरणमें बीतता है जिससे ऐसे मोही जीव दर्शनमोहके प्रभावसे रात दिन आकुलतासे पूर्ण रहते हुए कभी भी सुख शांतिके भावको नहीं पाते हैं। संसारके मूल कारण यही रागद्वेष मोह हैं।

इनहीसे क्षुभित जीव अनादि कालसे संसारमें जन्म मरण करता है तथा जबतक दर्शन मोहको दूर न करे तबतक बराबर चाहे अनन्तकाल होजावे जन्म मरण करता रहेगा।

दूसरा भेद रागद्वेषका वह है जो इस जीवको विषयोंमें श्रद्धा व रुचिकी अपेक्षा मूर्छित नहीं करता है किन्तु दर्शन मोहके बल बिना रुचि न होते हुए भी विषयोंकी चाह पैदा करता है जिससे यह जानते हुए भी कि विषयोंमें सुख नहीं है ऐसी निर्बलता भावोंमें रहती है कि इष्ट पदार्थोंमें राग व अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष कर लेता है। इसकी वासना छः मासके अधिक नहीं रहती है, दर्शन मोह रहित सम्यग्दृष्टी जीवमें धर्ममें आस्तिक्य, जीवोंपर करुणा, कषायोंकी मंदतासे प्रशमभाव, तथा संसारमें वैराग्यरूप संवेग भाव वर्तन करता है जिससे यह जीव यथासंभव अन्यायोंसे वचनेका व परको पीड़ितकर अपने स्वार्थ साधनका बचाव

रखनेका उद्यम करता है। ऐसे जीवको अविरत सम्यग्दृष्टी कहते हैं। तथा इस रागद्वेषको अप्रत्याख्यानावरणीय रागद्वेष कहते हैं। इस भेदके कारण यह जीव श्रावकके व्रतोंके नियमोंको नहीं धारण कर सक्ता है। तीसरा भेद रागद्वेषका वह है कि जिसके कारण संसारसे छूटनेका भाव आत्मामें परिणति होने लगता है और यह सम्यग्दृष्टी जीव बड़े उत्साहसे श्रावकके व्रतोंको धारता हुआ त्याग करता चला जाता है। विषयोंके भोगमें अति उदासीन होता हुआ क्रमसे घटाता हुआ व परिग्रहको भी कम करता हुआ पहली दर्शन प्रतिमासे बढता हुआ ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा तक बढ जाता है जहांपर परिग्रहमें मात्र एक लंगोटी होती है और आचरण मुनि मार्गकी तरफ झुकता हुआ है। इस भेदको प्रत्याख्यानावरणीय रागद्वेष कहते हैं। इसकी वासना पंद्रह दिनसे अधिक नहीं रहती है इसके बलसे मुनिव्रत नहीं होते हैं। जब यह नहीं रहता है तब मुनिव्रत होता है। चौथा भेद रागद्वेषका वह है जो संयमको घात नहीं करता है किन्तु वीतराग चारित्रके होनेमें मलीनता करता है। जब यह हट जाता है तब साधु वीतरागी तथा आत्माके आनन्दमें लीन हो जाता है। इस भेदको संज्वलन रागद्वेष कहते हैं। इसकी वासना अंतर्मुहूर्त मात्र है। जहां पहला भेद है वहां अन्य तीनों भी साथ साथ हैं। पहला भेद मिटनेपर तीन, दो मिटनेपर शेष दो, तीनों भेद मिटनेपर चौथा ही भेद रहता है। चारों ही प्रकारके रागद्वेषोंके दूर हुए विना यह आत्मा पूर्ण असुभित व निराकुल नहीं होता है। तथापि जो २ भेद मिटता जाता है उतनी उतनी निराकुलता होती जाती

है। इस रागद्वेषमें चार कषाय और नौ नोकषाय गर्भित हैं।

लोभ माया कषाय और हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये पांच नोकषाय ऐसे ७ चारित्रमोहके भेदोंको राग तथा क्रोध, मान, कषाय और अरति, शोक भय, जुगुप्सा ये चार नोकषाय ऐसे ६ चारित्र मोहके भेदोंको द्वेष कहते हैं। इन्हीं रागद्वेषके चार भेद समझनेसे तेरह प्रकारके भेद अनन्तानुबन्धी, आदि चार भेदरूप फैलनेसे ५२ बावन प्रकारके भाव होसक्ते हैं। यद्यपि सिद्धांतमें कषायरूप चारित्र मोहनीयके २५ पचीस भेद कहे हैं तथापि चार कषायके सोलह भेद जैसे सिद्धांतमें कहे हैं, उनको लेकर और नौ नोकषाय भी इन १६ कषायोंकी सहायता पाकर काम करते हैं इसलिये इनके भी छत्तीस भेद होजाते हैं। इस तरह बावन भेद जानने चाहिये। दर्शनमोहके भी तीन भेद हैं–मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व। जो सर्वथा श्रद्धान विगाड़े वह मिथ्यात्व है, जो सच्चे झूठे श्रद्धानको मिश्र रूप रक्खे वह मिश्र है। जो सच्चे श्रद्धानमें मल या अतीचार लगावे वह सम्यक्त प्रकृति है। इस तरह मोहके सब पचपन भेद होसक्ते हैं।

इस मोहको आत्माका विरोधी, सुख शांतिका नाशक सम ताका घातक व संसारचक्रमें भ्रमण करनेवाला जानकर मुमुक्षु जीवको उचित है कि वह निज आत्माके अपने ही शुद्धोपयोग रूप साम्यभावको उपादेय मान उसीके लिये पुरुषार्थ करे। संसारमें दुःखी करनेवाला एक मोह है जैसा श्री योगीन्द्रदेवने अमृता

अज्ञाननामतिमिरप्रसरोयमन्त
सन्दर्शिताखिलपदार्थविपर्ययात्मा-
मती न मोक्षपदे स्फुरतीह याव-
तावत्कुतस्तव शिवं तदुपायता वा ॥१८॥

भावार्थ-यह है कि मोह राजाका मंत्री जो अज्ञान नामका अन्धकारका फैलाव जिससे आत्मामें सम्पूर्ण पदार्थोंका उलटा स्वरूप मालूम पड़ता है, जब तक आत्मामें प्रगट रहता है तब तक हे आत्मा! कहां तेरे मोक्ष है और कहां तेरे इस मोक्षका उपाय है। श्री कुलभद्र आचार्यने श्री सारसमुच्चयमें भी इस भांति कहा है —

कषायकलुषो जीवो रागरंजितमानसः ।
चतुर्गतिभवाम्भोधौ भिन्ना नौरिव सीदति ॥ ३१ ॥
कषायवशगो जीवो कर्म बध्नाति दारुणम् ।
तेनासौ क्लेशमाप्नोति भवकोटिषु दारुणम् ॥ ३२ ॥
कषायविषयैश्चित्तं मिथ्यात्वेन च संयुतम् ।
संसारबीजतां याति विमुक्तं मोक्षबीजताम् ॥ ३३ ॥

भाव यह है कि जो जीव कषायोंसे मैला है व जिसका मन रागसे रंगीला है वह टूटी हुई नौकाके समान चार गतिरूप संसार समुद्रमें कष्ट उठाता है। कषायके आधीन जीव भयानक कर्मोंको बांधता है। जिससे यह करोड़ों जन्मोंमें भयानक दुःखको पाता है। जो चित्त मिथ्यात्व सहित है व कषाय विषयोंसे पूर्ण है वह संसारके बीजपनेको और जो चित्त इन मिथ्यात्व व विषय कषायोंसे रहित है वह मोक्षके बीजपनेको प्राप्त होता है। ऐसा

नान मोहसे उदास हो निर्मोह शुद्ध आत्मा ही के सन्मुख होना चाहिये। ॥ ९० ॥

उत्थानिका-आगे आचार्य यह घोषणा करते हैं कि इन राग द्वेष मोहोंको जो संसारके दुःखोंके कारणरूप कर्मबंधके कारण हैं, निर्मूल करना चाहिये।

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥९१॥

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य।
जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते संक्षपयितव्याः ॥ ९२ ॥

सामान्यार्थ-मोह तथा राग द्वेषसे परिणमन करनेवाले आत्माके नाना प्रकार कर्म बंध होता है इसलिये इनका क्षय करना योग्य है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स) मोह राग द्वेषमें वर्तनेवाले बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी जीवके जो मोहादि रहित परमात्माके स्वरूपमें परिणमन करनेसे दूर है (विविहो बंधो जायदि नाना प्रकार कर्मोका बंध उत्पन्न होता है अर्थात् शुद्धोपयोग लक्षणको रखनेवाला भाव मोक्ष है। उस भावमोक्षके बलसे जीवके प्रदेशोंसे कर्मोंके प्रदेशोंका बिलकुल अलग हो जाना द्रव्य मोक्ष है। इस प्रकार द्रव्य भाव मोक्षसे विलक्षण तथा सर्व तरहसे ग्रहण करने योग्य स्वाभाविक सुखसे विपरीत जो नरक आदिका दुःख उसको उदयमें लानेवाला कर्म बंध होता है (तम्हा ते संखवइदव्वा) इसलिये जब राग द्वेष

मोहमें वर्तनेवाले जीवके इस तरहका कर्म बंध होता है तब रागा दिसे रहित शुद्ध आत्मध्यानके बलसे इन रागद्वेष मोहोंका भले प्रकार क्षय करना योग्य है यह तात्पर्य्य है।

भावार्थ-यहां आचार्यने यह प्रेरणा की है कि आत्माके हित चाहनेवाले पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे आत्माको इन कर्मोंके बंधनोंसे छुड़ावें जिनके कारण यह आत्मा चार गतियोंमें भ्रमण करते हुए अनेक दुःखोंको भोगता है और निराकुल होकर अपनी सुख शांतिका लाभ सदाके लिये नहीं कर सक्ता है। क्योंकि नाना प्रकारके कर्मोंका बंधन इस अशुद्ध आत्माके उसके अशुद्ध भावोंसे होता है जिन भावोंको मोह, राग व द्वेष कहते हैं, इस लिये इन भावोंके कारण जो पूर्वबद्ध दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय कर्म्म हैं उनको जड़ मूलसे आत्माके प्रदेशोंसे दूर करके निकाल देना चाहिये जब कारण नहीं रहेगा तब उसका कार्य्य नहीं रहेगा। यहां इतना समझ लेना चाहिये कि आठों ही प्रका रके कर्मोंके बंधके कारण ये रागद्वेष मोह हैं। जिन जीवोंने उनका क्षय कर दिया है ऐसे क्षीण मोही साधुके कर्मोंका बंध नहीं होता है, केवल योगोंके कारण ईर्यापथ आश्रव होता है जो चिकनई रहित शरीरपर धूल पड़नेके समान है, ठहरता नहीं है। इनके क्षय करनेका उपाय सूक्ष्मतासे जाननेके लिये श्री क्षपणासार ग्रन्थका मनन करना चाहिये। यहां इतना मात्र कहा जाता है कि पहले दर्शन मोहको और उसके सहकारी अनंतानुबंधी सम्बन्धी रागद्वेषको नाशकर क्षायिक सम्यग्दर्शनका लाभ करना चाहिये फिर श्रावक तथा साधुके आचरणको पालकर तथा शुद्धो

पयोगकी भावना व उसका ध्यान करके सर्व रागद्वेष सम्बन्धी कर्म प्रकृतियोंको क्षय कर देना चाहिये। इन रागद्वेष मोहके क्षय करनेका उपाय आत्माका ज्ञान और वीर्य है। इसलिये मनसहित विचारवान जीवका कर्तव्य है कि वह जिनवाणीका अभ्यास करके आत्मा और अनात्माके भेदको समझले। आत्माके द्रव्यगुण पर्याय आत्मामें और अनात्माके द्रव्य गुण पर्याय अनात्मामें जाने। यद्यपि अपना आत्मा कर्म पुद्गलरूप अनात्माके साथ दूध पानीकी तरह मिला हुआ है तथापि हंस जैसे दूध पानीको अलग २ करनेकी शक्ति रखता है वैसे तत्वज्ञानीको इस आत्मा और अनात्माके लक्षणोंको अलग अलग जानकर इनको अलग अलग करनेकी शक्ति अपनेमें पैदा करनी चाहिये। इस ज्ञानको भेद विज्ञान कहते हैं। इस भेद विज्ञानके बलसे अपना आत्मवीर्य लगाकर भावको मोहके प्रपंच जालोंसे हटाकर शुद्ध आत्माके स्वरूपके मननमें लगा देना चाहिये। ज्यों २ आत्माकी तरफ झुकेगा मोहनीय कर्म शिथिल पड़ेगा। वारवार अभ्यास करते रहनेसे एक समय यकायक सम्यग्दर्शनके बाधक कर्मोंका उपशम हो जायगा। फिर भी इसी शुद्ध आत्माके मननके अभ्यासको जारी रखनेसे सम्यक्तके बाधक कर्मोंका जड़मूलसे क्षय होजायगा तब अविनाशी क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जायगा। फिर भी उसी शुद्ध आत्माका मनन ध्यान या अनुभव करते रहना चाहिये। इसीके प्रतापसे गुणस्थानोंके क्रमसे चढ़ता हुआ एक दिन क्षपक श्रेणीके मार्गपर आरूढ होकर सर्व मोहनीय कर्मका क्षय कर वीतरागी निर्ग्रंथ साधु हो जायगा। तात्पर्य यह है इन राग द्वेष मोहोंके

नाशका उपाय निज आत्माका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान तथा अनुभव रूप चारित्र है। निश्चय रत्नत्रय रूप आत्मा ही आपही मुक्तिका कारण है, इसलिये मोक्षार्थी पुरुषका कर्तव्य है कि वह आत्म पुरुषार्थ करके इस संसारके कारणीभूत राग द्वेष मोहका नाश करे। जिससे यह आत्मा संसारके दुःखोंसे छूटकर निराकुल अतीन्द्रिय आनंदका भोगनेवाला सदाके लिये हो जावे।

श्री अमितगति आचार्यने अपने बृहत् सामायिकपाठमें कहा है:-

अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रिया।
बाह्याभ्यंतरसंगमांशविमुखा कृत्वात्मवश्यं मनः॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमध्यासते।
ते गच्छंति शिवालयं विकलिला बध्वा समाधिं बुधाः॥१८

भाव यह है कि जिन्होंने इंद्रिय विषय और कषाय रूपी वैरियोंका विजय कर लिया है, लौकिक क्रियाओंको रोक दिया है, तथा अपने मनको अपने आधीन करके बाहरी भीतरी परिग्रहके लेश मात्रसे भी अपनेको विमुख कर लिया है और जो संसार शरीर भोग सम्बन्धी श्रेष्ठ वैराग्यको धरनेवाले हैं वे ही बुद्धिमान समाधिभावको पाकर तथा शरीर रहित होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

श्री गुणभद्राचार्यने अपने ग्रंथ आत्मानुशासनमें कहा है-

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा।
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी॥
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं।
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः॥२२५॥

भावार्थ-जो साधु यम नियममें लीन हैं, अतरंग बहिरंग
ांत हैं, आत्म मम धिमें वर्तनेवाले हैं, सर्व जीवोंपर दयालु हैं,
दिशारी मर्यादा रूप आहार करनेवाले हैं, निद्राके जीतनेवाले हैं
था शुद्ध आत्माके स्वरूपको निश्चय किये हुए हैं वे ही सर्व
ुखोंके समूहको जड़मूलसे जला देते हैं ।

तात्पर्य यह है कि जिस तरह बने अपने आत्माकी भावना
रके राग द्वेष मोहका क्षय कर देना चाहिये ॥९१॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि राग द्वेष मोहोंको उनके
चिन्होंसे पहचानकर यथासंभव उनकोका विनाश करना चाहिये ।

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु ।
विसयेसु अप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥९२॥

अर्थे अयथाग्रहणं करुणाभावश्च तिर्यग्मनुष्येषु ।
विषयेषु च प्रसंगो मोहस्यैतानि लिंगानि ॥९२॥

सामान्यार्थ-पदार्थोंके सम्बन्धमें यथार्थ नहीं समझना,
तिर्यंच या मनुष्योंमें राग सहित दया भाव और विषयोंमें विशेष
लीनता ये मोहके चिन्ह हैं ।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(अट्ठे अजधागहणं) शुद्ध
आत्मा आदि पदार्थोंके स्वरूपमें उनका जैसा स्वभाव है उस
स्वभावमें उनको रहते हुए भी विपरीत अभिप्रायसे औरका और
अन्यथा समझना तथा (तिरियमणुएसु) मनुष्य या तीर्यंच जीवोंमें
(करुणाभावो य) शुद्धात्माकी प्रातिरूप परम उपेक्षा संयमसे विपरीत
दयाका परिणाम अथवा व्यवहारसे उनमें दयाका अभाव होना
दर्शन मोहके चिन्ह हैं (विसएसु अप्पसंगो) विषय रहित सुखके

मनुष्य और पशुओंको बहुत सताता है, अपने खानपान व्यवहारमें दयाभावसे वर्तन नहीं करता है। दूसरे प्राणी सर्वथा नष्ट होजावें तो भी अपने विषय कषाय पुष्ट करता है।

राग द्वेषके चिन्ह यह हैं कि इंद्रियोंके मनोज्ञ पदार्थोंमें अतिशय प्रीति करना तथा जो पदार्थ अपनेको नहीं रुचते हैं उनमें द्वेष करना। जहां थोड़ा भी पर पदार्थ पर राग या द्वेष है वहां चारित्र मोहनीयका चिन्ह प्रगट होता है। राग या द्वेषके वशीभूत हो अपने प्रीति भाजनोंपर यह प्राणी तरह२का उपकार करता है और जिनपर द्वेष रखता है उनका हर तरह बिगाड़ करता है। जहां उपकारी पर प्रेम व अपकारी पर अप्रेम है वहां राग द्वेष है। जहां उपकारी पर राग व अपकारी पर द्वेष नहीं वहीं वीतरागभाव है। इन चिन्होंको बतानेका प्रयोजन यही है कि जो जीव सुख शांति प्राप्त करना चाहते हैं उनको उचित है कि वे इन तीनोंको छोड़नेका उपाय करें और वह उपाय एक साम्यभाव या शुद्धोपयोगका अभ्यास है। इसलिये अपने शुद्ध आत्माकी भावनाका अभ्यास करके इन समताभावके लाभसे राग द्वेष मोहको क्षय करना चाहिये।

श्री योगीन्द्रदेवने अमृताशीतिमें मोक्ष लाभके लिये नीचे प्रमाण बहुत अच्छा उपदेश दिया है—

> बहिरबहिरसारे तु खभारे शरीरे ।
> क्षपिणि यत रमन्ते मोहिनोऽस्मिन् वराका ॥
> इति यदि तव बुद्धिर्निर्विकल्पस्वरूपे ।
> भज भजसि भवान्तस्थाय धामाधिपस्त्वम् ॥ ६९ ॥

भावार्थ-अत्यन्त आत्मासे भिन्न इस असार नाशवंत, तथा दुःखोंके बोझसे भारी शरीरमें जो विचारे मोही जीव हैं वे ही रमण करते हैं यह बड़े खेदकी बात है। हे भाई, यदि तेरी बुद्धि आत्माके विकल्प रहित शुद्ध स्वभावमें ठहर जाय तो तू भवोंके अन्तको पाकर अविनाशी मोक्ष धामका स्वामी हो जाय।

तात्पर्य यह है कि मोहके नाशके लिये निज आत्माका भजन ही कार्यकारी है।

और भी यही कहा है —

इदमिदमतिरम्यं नेदमित्यादिभेदा-
द्विदधति पदमेते रागरोषादयस्ते ॥
तदलमलमेकं निष्कलं निष्क्रियात्मन् ।
भज भजसि समाधेः सत्फलं येन नित्यम् ॥ ६६ ॥

भाव यह है कि यह चीज अति रमणीक है, यह चीज रमणीक नहीं है इत्यादि भेद करके ये राग द्वेषादि अपना पद स्थापन करते हैं इससे कुछ कार्यकी सिद्धि नहीं होती इसलिये सर्व क्रियाकांडोंसे निवृत्त होकर शरीर रहित तथा निर्मल एक आत्माको भजन करो, इसीसे तू समाधिका अविनाशी सुखा फल भोगेगा। यहां इतना और जानना चाहिये कि गाथामें जो करुणाभाव शब्द है व जिसका दूसरा अर्थ वृत्तिकारने दयाका अभाव किया है, हमारी सम्मतिमें मूलगाथाका यही भाव ठीक मालूम होता है कि जो मिथ्यादृष्टी होता है उसका लक्षण अनुकम्पाका अभाव है। क्योंकि सम्यग्दृष्टीके चार चिह्न शास्त्रमें कहे हैं अर्थात प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य। ये ही

चार लक्षण मिथ्यादृष्टीमें नहीं होते इसीका संकेत आचार्यने गाथामें किया है ऐसा झलकता है। और यह बात बहुत ही ठीक मालूम पडती है, क्योंकि मिथ्यादृष्टीके चित्तमें आत्माका श्रद्धान न होनेसे केवल अपने स्वार्थका ही ध्यान होता है। इस लिये उसके चित्तमें न दयाभाव सच्चा होता है, न दयारूप वर्तन होता है।

चारत्रमें सम्यक्तभाव ही कार्यकारी है यही सर्व गुणोंका बीज है ॥ ९२ ॥

उत्थानिका–आगे यह पहले कह चुके हैं कि द्रव्य, गुण पर्यायका ज्ञान न होनेसे मोह रहता है इसी लिये अब आचार्य आगमके अभ्यासकी प्रेरणा करते हैं अथवा यह पहले कहा था कि द्रव्यपने, गुणपने व पर्यायपनेके द्वारा अरहंत भगवानका स्वरूप जाननेसे आत्माका ज्ञान होता है। ऐसे आत्म ज्ञानके लिये आगमके अभ्यासकी अपेक्षा है इस प्रकार दोनों पातनिकाओंको मनमें धरकर आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं–

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा। खीयदि मोहोवचयो, तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥९३॥

जिनशास्त्रादर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्बुध्यमानस्य नियमात्।
क्षीयते मोहोपचयः तस्मात् शास्त्रं समध्येतव्यम् ॥ ९३ ॥

सामान्यार्थ:–जिन शास्त्रके द्वारा पदार्थोंको प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जाननेवाले पुरुषके नियमसे मोहका समूह नष्ट हो जाता है इसलिये शास्त्रको अच्छी तरह पढ़ना योग्य है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जिणसत्थादो) जिन शास्त्रकी निकटतासे (अट्ठे) शुद्ध आत्मा आदि पदार्थोंको (पच्चक्खादीहिं) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा (बुज्झदो) जाननेवाले जीवके (णियमा) नियमसे (मोहोवचयो) मिथ्या अभिप्रायके संस्कारको करनेवाला मोहका समूह (खीयदि) क्षय होजाता है (तह्मा) इसलिये (सत्थं समधिदव्वं) शास्त्रको अच्छी तरह पढ़ना चाहिये विशेष यह है कि कोई भव्य जीव वीतराग सर्वज्ञसे कहे हुए शास्त्रसे 'एगो मे सस्सदो अप्पा" इत्यादि परमात्माके उपदेशक श्रुतज्ञानके द्वारा प्रथम ही अपने आत्माके स्वरूपको जानता है, फिर विशेष अभ्यासके वशसे परम समाधिके कालमें रागादि विकल्पोंसे रहित मानस प्रत्यक्षसे उस ही आत्माका अनुभव करता है। वैसे ही अनुमानसे भी निश्चय करता है। जैसे इस ही देहमें निश्चय नयसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा है क्योंकि विकार रहित स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे वह इस ही तरह जाना जाता है जिस तरह सुख दुःख आदि। तैसे ही अन्य भी पदार्थ यथासंभव आगमसे व अभ्याससे उत्पन्न प्रत्यक्षसे वा अनुमानसे जाने जासक्ते हैं। इसलिये मोक्षके अर्थी पुरुषको आगमका अभ्यास करना चाहिये यह तात्पर्य है।

भावार्थ-यहां आचार्यने अनादि मोहके क्षयका परम्परा अत्यंत आवश्यक उपाय जिनवाणीका अभ्यास बताया है। जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान हुए विना उनका श्रद्धान नहीं हो सक्ता, श्रद्धान विना मनन नहीं होसक्ता, मनन विना दृढ़ संस्कार नहीं हो सक्ता, दृढ़ संस्कारके विना स्वात्माका अनुभव नहीं हो

सक्ता, स्वात्माके अनुभव विना सम्यक्त नहीं हो सक्ता। सम्यक्त और स्वात्मानुभव होनेका एक ही काल है। जब यह शक्ति प्रगट हो जाती है तब ही दर्शनमोहनीय उपशम होती है।

सर्वज्ञ वीतराग पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण वीतरागी होनेके कारण अर्हंत अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्थामें शरीर सहित होनेके कारण ही उपदेश दे सक्ते हैं। उनका उपदेश यथार्थ पदार्थोंका प्रगट करनेवाला होता है,उस ही उपदेशको गणधर आदि महाबुद्धिशाली आचार्य धारणामें रखते हैं और उनके द्वारा अन्य ऋषिगण जानते हैं। उनहीकी परम्परासे चला आया हुआ वह उपदेश है जो श्री कुन्दकुन्द, उमास्वामी, पूज्यपाद आदि आचार्योंके रचित ग्रन्थोंमें मौजूद है। इसलिये जिनवाणीमें प्रसिद्ध चारों ही अनुयोगोंका कथन हरएक मुमुक्षुको जानना चाहिये। जितना अधिक शास्त्रज्ञान होगा उतना अधिक स्पष्ट ज्ञान होगा। जितना स्पष्ट ज्ञान होगा उतना ही निर्मल मनन होगा। प्रथमानुयोगमें पूज्य पुरुषोंके जीवनचरित्र उदाहरण रूपसे कर्मोंके प्रपंचको व संसार या मोक्षमार्गको दिखलाते हैं। करणानुयोगमें जीवोंके भावोंके वर्तनकी अवस्थाओंको व कर्मोंकी रचनाको व लोकके स्वरूपको इत्यादि तारतम्य कथनको किया गया है। चरणानुयोगमें मुनि तथा श्रावकके चारित्रके भेदोंको बताकर व्यवहारचारित्रपर आरूढ किया गया है। द्रव्यानुयोगमें छ द्रव्योंका स्वरूप बताकर आत्मा द्रव्यके मनन, भमन व ध्यानका उपाय बताकर निश्चय रत्नत्रयके पथको दर्शाया गया है। इन चारों ही प्रकारके [illegible]

अभ्यास सदा ही उपयोगी है। सम्यक्त होनेके पीछे सम्यग्चारित्रकी पूर्णता व सम्यग्ज्ञानकी पूर्णताके लिये भी जिनवाणीका अभ्यास कार्यकारी है। इस पंचमकालमें तो इसका आलम्बन हरएक मुमुक्षुके लिये बहुत ही आवश्यक है क्योंकि यथार्थ उपदेष्टाओंका समागम बहुत दुर्लभ है। जिनवाणीके पढ़नेसे एक मूढ़ मनुष्य भी ज्ञानी हो जाता है। आत्महितके लिये यह अभ्यास परम उपयोगी है। स्वाध्यायके द्वारा आत्मामें ज्ञान प्रगट होता है, कषायभाव घटता है, संसारसे ममत्व हटता है, मोक्ष भावसे प्रेम जगता है। इसीसे निरंतर अभ्याससे मिथ्यात्वकर्म और अनंतानुबंधी कषायका उपशम हो जाता है और सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है। श्री अमृतचंद्र आचार्यने श्री समयसार कलशमें कहा है—

> उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
> जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
> सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चै-
> रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥

भावार्थ—निश्चयनय और व्यवहारनयके विरोधको मेटनेवाली स्याद्वादसे लक्षित जिनवाणीमें जो रमते हैं व स्वयं मोहको वमनकर शीघ्र ही परमज्ञानज्योतिमय शुद्धात्माको जो नया नहीं है और न किसी नयकी पक्षसे खंडन किया जा सक्ता है देखते ही हैं।

यह स्वाध्याय श्रावक धर्म और मुनि धर्मके पालनमें भी उपकारी है। मनको अपने आधीन रखनेमें सहाई है।

श्री गुणभद्राचार्य अपने आत्मानुशासनमें इस भांति कहते हैं—

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते ।
वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते ॥
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं ।
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटममुम् ॥ १७० ॥

भावार्थ–बुद्धिमान पुरुष अपने मनरूपी बन्दरको प्रतिदिन शास्त्ररूपी वृक्षके स्कधमें रमावे, जिस वृक्षकी जड सम्यक् व गाढ बुद्धि है, जो नाना नयरूपी सैकडों शाखाओंसे ऊचा है, जिसमें वाक्यरूपी पत्ते हैं व जो अनेक धर्मरूप पदार्थोंके बडे २ फलोंके भारसे नम्र है।

ऐसा जानकर जब आत्मामें शुद्धोपयोगकी भावना यों ही न होसके तब शास्त्रोंके स्वाध्यायके द्वारा भावको निर्मल करते रहना चाहिये। यह शास्त्रका अभ्यास मोक्ष मार्गकी प्राप्तिके लिये एक प्रबल सहकारी कारण है ॥ ९३ ॥

उत्थानिका–आगे द्रव्य, गुण पर्यायोंको अर्थसंज्ञा है ऐसा कहते हैं —

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया ।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्वत्ति उवदेसो ॥ ९४ ॥

द्रव्याणि गुणास्तेषां पर्याया अर्थसंज्ञया भणिताः ।
तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः ॥ ९४ ॥

सामान्यार्थ–द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायोंको अर्थ नामसे कहा गया है। इनमें गुण और पर्यायोंका सर्वस्व द्रव्य है ऐसा उपदेश है।

-अन्वय सहित विशेषार्थ-(दव्वाणि) द्रव्य, (गुणा) उनके सहभावी गुण व (तेसिं पज्जाया) उन द्रव्योंकी पर्यायें ये तीनों ही (अट्ठसण्णया) अर्थके नामसे (भणिया) कहे गए हैं। अर्थात् तीनोंको ही अर्थ कहते हैं। (तेसु) इन तीन द्रव्य गुण पर्यायोंमेंसे (गुणपज्जयाण अप्पा) अपने गुण और पर्यायोंका सम्बन्धी स्वभाव (दव्वत्ति) द्रव्य है ऐसा उपदेश है। अथवा यह प्रश्न होनेपर कि द्रव्यका क्या स्वभाव है? यही उत्तर होगा कि जो गुण पर्यायोंका आत्मा या आधार है वही द्रव्य है वही गुण पर्यायोंका निजभाव है। विस्तार यह है कि जिस कारणसे शुद्धात्मा अनन्त ज्ञान अनंत सुख आदि गुणोंको तैसे ही अमूर्तीकपना, अतींद्रियपना, सिद्धपना आदि पर्यायोंको इयर्ति अर्थात् परिणमन करता है व आश्रय करता है इस लिये शुद्धात्मा द्रव्य अर्थ कहा जाता है तैसे ही जिस कारणसे ज्ञानपना गुण और सिद्धपना आदि पर्यायें अपने आधारभूत शुद्धात्मा द्रव्यको इयरति अर्थात परिणमन करती हैं-आश्रय करती हैं, इसलिये ये ज्ञानगुण व सिद्धत्व आदि पर्यायें भी अर्थ कही जाती हैं। ज्ञानपना गुण और सिद्धपना आदि पर्यायोंका जो कुछ सर्वस्व है वही उनका निज भाव स्वभाव है और वह शुद्धात्मा द्रव्य ही स्वभाव है। अथवा यह प्रश्न किया जाय कि शुद्धात्मा द्रव्यका क्या स्वभाव है तो कहना होगा कि पूर्वमें कही हुई गुण और पर्यायें हैं। जिस तरह आत्माको अर्थ सज्ञा जानना उसी तरह अन्य द्रव्योंको व उनके गुण पर्यायोंको अर्थ सज्ञा है ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने जिनवाणीके द्वारा जिन पदार्थोंको जानना है उनकी व्यवस्थाका कुछ सार बताया है, अर्थ शब्दको द्रव्य, गुण, पर्याय तीनोंमें घटाया है। इयर्ति इति अर्थ-अर्थात् गुण पर्यायोंको आश्रय करे व परिणमन करे वह अर्थ अर्थात् द्रव्य है। इसी तरह इयरति इति अर्था जो द्रव्यको आश्रय करते हैं ऐसे गुण तथा द्रव्यके आधारमें परिणमन करनेवाली पर्यायें अर्थ हैं। द्रव्य गुण पर्यायोंका सर्वस्व है या समुदाय है। यह उपदेश श्री सर्वज्ञ भगवानका है। जैसे मिट्टी अपने चिकनेपने आदि गुणको व घड़े सकोरे प्याले आदि पर्यायको आश्रय करती है इससे मिट्टी अर्थ है, वैसे चिकनापना आदि गुण मिट्टीको आश्रय करते हैं इससे चिकनापना आदि गुण अर्थ हैं। इसी तरह घड़ा, सकोरा, मटकेना आदि पर्यायें मिट्टीको आश्रय करती हैं इसलिये ये घड़े आदि अर्थ हैं। मिट्टी अपने चिकनेपने आदि गुण व घड़ा आदि पर्यायोंका आधार है या सर्वस्व है इस लिये मिट्टी द्रव्य है। मिट्टीमें जितने सहभावी हैं वे गुण हैं और उन गुणोंमें जो समय समय सूक्ष्म या स्थूल परिणमन होता है वे पर्यायें हैं। जितनी पर्यायें मिट्टीके गुणोंमें होनी सभव हैं अर्थात् जितनी पर्यायें मिट्टी गुप्त हैं वे ही क्रमसे कभी कोई कभी कोई प्रगट होती रहती हैं। एक समयमें एक पर्याय रहेगी इसलिये पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं। श्री उमास्वामी महाराजने भी तत्वार्थ सूत्रमें कहा है "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" ॥ ३८ अर्थात् गुण पर्यायोंको आश्रय रखनेवाला द्रव्य है। आत्मा और अनात्मारूप छहों द्रव्योंमें अर्थपना और द्रव्यपन इसी तरह सिद्ध है। आत्माके ज्ञान सुख

वीर्य चारित्र सम्यक्त्वादि विशेष गुण, अस्तित्व, वस्तुत्त्व, द्रव्यत्त्व आदि सामान्य गुण सदा साथ रहनेवाले गुण हैं। और मोक्षापेक्षा सिद्धपना आदि पर्याय है। सिद्ध भगवानका आत्मा अपने इन शुद्ध गुण पर्यायोंका आत्मा है, सर्वस्व है, कारण है इसलिये शुद्धात्मा द्रव्य है। इस कथनसे आचार्यने यह भी सिद्ध करदिया है कि द्रव्यमें न तो गुण बढ़ते हैं, न अपनी सत्तासे घटते हैं, इनमें प्रगटपना अप्रगटपना नाना शक्तियोंसे हुआ करता है इसीसे समय समय गुणोंका स्वाभाविक या वैभाविक अवस्था विशेष जानेमें आती है इसीको पर्याय कहते हैं। इसलिये वह चेतन द्रव्य जिसमें जड़पना नहीं है कभी भी पलटत पलटत जड़ अचेतन नहीं हो सका और न अचेतन जड़ द्रव्य पलटते पलटते कभी चेतन बन सके हैं। चेतनकी पर्याय चेतनरूप, अचेतनकी अचेतन रूप ही हुआ होगा। इसलिये अपनेमें जो जड़ चेतन दो द्रव्य एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध रखते हुए दूध पानीकी तरह मिले हैं उन दोनोंको इसप्रकार तरह अलग अलग जानो। चेतनके स्वाभाविक गुण पर्याय चेतनमें, जड़के स्वाभाविक गुणपर्यायें अचेतनमें। इस ही ज्ञानको सच्चा पदार्थज्ञान कहते हैं। तथा यही सच्चा विवेकरूप कहा जाता है। इसी विवेकसे निज आत्मा पृथक् झलकता है, इसी झलकनको स्वानुभव व स्वात्मध्यान कहते हैं तथा यही आनंद और वीतरागताको देता है, यही निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग है, यही बंध नाशक है यही स्वतन्त्रताका बीज है इस पदार्थ ज्ञानकी महिमाको श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसार कलशमें कहा है—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसो रौष्ण्यशैत्यव्यवस्था ।
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ॥
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः ।
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥३६॥

भाव यह है कि पदार्थके यथार्थ ज्ञानसे ही गर्म पानीके भीतर गर्मी अग्निकी है, पानी शीतल होता है, यह बुद्धि होती है। एक नमकीन व्यञ्जनमें निमकपना लवणका तथा तरकारीका स्वाद अलग है यह ज्ञानपना प्रगट होता है इसी तरह आत्मा और अनात्माके विवेक ज्ञानसे ही अविनाशी चैतन्य प्रभु आत्मा भिन्न है तथा क्रोधादि विकारकी कलुषताको रखनेवाला सूक्ष्म कार्मोण पुद्गल स्कंध अलग है यह तत्वज्ञान होता है, तब यह अज्ञान मिट जाता है कि मैं चेतन क्रोधादिका कर्ता हूं व क्रोधादि मेरे ही स्वाभाविक कार्य हैं। ऐसा भेदज्ञान होनेसे ही निज आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमें प्रतीतिगोचर होते हुए अनुभवगोचर होता है। प्रयोजन यह है कि जिनवाणी द्वारा पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करके द्रव्योंके गुण पर्यायोंको पहचानना चाहिये तथा गुण गुणी अलग रहते हैं यह मिथ्या बुद्धि छोड़ देनी चाहिये, तब ही आत्माका हित होगा व निशङ्क ज्ञान होकर समताभावका उदय होगा।

उत्थानिका—आगे यह प्रगट करते हैं कि इस दुर्लभ जैनके उपदेशको पाकरके भी जो कोई मोह रागद्वेषोंको नाश करते हैं वे ही सर्व दुःखोंका क्षय करके निज स्वभाव प्राप्त करते हैं।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।९५।

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम् ।
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ ९५ ॥

सामान्यार्थ-जो कोई जैन तत्त्वज्ञानके उपदेशको पाकर रागद्वेषोंको नाश करता है वह थोडे ही कालमें सर्व दु खोंसे मुक्ति पालेता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जो) जो कोई भव्य जीव (जोण्हमुवदेस उवलद्ध) जैनके उपदेशको पाकर (मोहरागदोसे णिहणदि) मोह रागद्वेषको नाश करता है (स) वह (अचिरेण कालेण) अल्पकालमें ही (सव्वदुक्खमोक्खं पावदि) सर्व दु खोंसे छुट जाता है। विशेष यह है कि जो कोई भव्यजीव एकेंद्रियसे विकलेंद्रिय फिर पचेंद्रिय फिर मनुष्य होना इत्यादि दुर्लभपनेकी परम्पराको समझकर अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त होनेवाले जैन तत्वके उपदेशको पाकर मोह राग द्वेषसे विलक्षण अपने शुद्धात्माके निश्चल अनुभव रूप निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे अविनाभूत वीतराग चारित्ररूपी तीक्ष्ण खड्गको मोह राग द्वेष शत्रुओंके ऊपर पटकता है वह ही वीर पुरुष परमार्थरूप अनाकुलता लक्षणको रखनेवाले सुखसे विलक्षण सर्व दु खोंका क्षय कर देता है यह अर्थ है।

भावार्थ-आचार्यने इस गाथामें चारित्र पालनेकी प्रेरणा की है। तथा वृत्तिकारके भावानुसार यह भाव समझनी चाहिये कि मनुष्य जन्मका पाना ही अति कठिन है। निगोद एकेन्द्रीसे

उन्नति करते हुए पचेन्द्रिय शरीरमें आना बड़ा दुर्लभ है। मनुष्य होकर भी जिनेन्द्र भगवानका सार उपदेश मिलना दुर्लभ है। यदि कोई शास्त्रोंका मनन करेगा और गुरुसे समझेगा तथा अनुभवमें लायेगा तो उसे जिन भगवानका उपदेश समझ पड़ेगा। भगवानका उपदेश आत्माके शत्रुओंके नाशके लिये निश्चय रत्नत्रयरूप स्वात्मानुभव है। इसीके द्वारा रागद्वेष मोहका नाश हो सक्ता है। सिवाय इस खड्गके और किसीमें बल नहीं है जो इन अनादिसे लगे हुए आत्माके वैरियोंका नाश किया जावे। जो कोई इस उपदेशको समझ भी लेवे परन्तु पुरुषार्थ करके स्वात्मानुभव न करे तो वह कभी भी दुःखोंसे छूटकर मुक्त नहीं होसक्ता। जैसा यहां आचार्यने कहा है, वैसा ही श्री समयसारजीमें आपने इस रागद्वेष मोहके नाशका उपाय इस गाथासे सूचित किया है—

जो आदभावणमिण णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो कोई मुनि नित्य उद्यमवत होकर निज आत्माकी भावनाको आचरण करता है वह शीघ्र ही सर्व दुःखोंसे छूट जाता है।

श्री योगेन्द्रदेवने श्री अमृताशीतिमें इसी भावकी प्रेरणा की है—

सरसाम्यभावगिरिगह्वरमध्यमेत्य।
पद्मासनादिकमशोपमिदं च बद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि सखे! परमात्मरूपं
त्वं ध्याय वेत्सि ननु येन सुखं समाधेः ॥ २८ ॥

भावार्थ-सच्चे समताभाव रूपी पहाड़की गुफाके मध्यमें जाकर और दोष रहित पद्मासन आदि कोई भी आसन बांधकर हे मित्र! तू अपने आत्मामें अपने परमात्म स्वरूपका ध्यान कर, जिससे अवश्य तू समाधिके आनन्दको भोगेगा।

आचार्य कुलभद्रजीने सारसमुच्चयमें कहा है-

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा।
येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥ ३१४ ॥

भाव यह है कि नित्य ही सुंदर आत्मज्ञानरूपी जलसे आत्माको स्नान कराना चाहिये, जिससे यह जीव जन्म जन्ममें भी निर्मलताको प्राप्त हो जावे। वास्तवमें यह जीव उपयोगको थिरकर भेदज्ञान द्वारा परको अलगकर निजको ग्रहण करता है तब ही वीतराग चारित्रके द्वारा मोहकर्मका नाश करता है। इस तरह द्रव्य, गुण पर्यायके सम्बन्धमें मूढताको दूर करनेके लिये और तीसरी ज्ञानकंठिका पूर्ण हुई ॥ ९५ ॥

उत्थानिका-आगे सूचित करते हैं कि अपने आत्मा और परके भेद विज्ञानसे मोहका क्षय होता है।

णाणप्पगमप्पाणं, परं च दव्वत्तणाहि संबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो, जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥ ९६ ॥

ज्ञानात्मकमात्मानं परं च द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम्।
जानाति यदि निश्चयतो यः स मोहक्षयं करोति ॥ ९६ ॥

सामान्यार्थ-जो कोई यदि निश्चयसे अपने ज्ञान स्व-

रूप आत्माको तथा अन्य चेतन अचेतन पदार्थको अपने अपने द्रव्यपनेसे सम्बंधित जानता है वही मोहका क्षय करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जो) जो कोई (णिच्छयदो) निश्चय नयके द्वारा भेदज्ञानको आश्रय करके (जदि) यदि (णाणप्पगमप्पाण परं च दव्वत्तणाहि संबद्ध जाणदि) अपने ज्ञान स्वरूप आत्माको अपने ही शुद्ध चैतन्य द्रव्यपनेसे सम्बंधित तथा अन्य चेतन अचेतन पदार्थोंको यथायोग्य अपनेसे पर चेतन अचेतन द्रव्यपनेसे सम्बंधित जानता है या अनुभव करता है (सो मोहक्खय कुणदि) वही मोह रहित परमानन्दमई एक स्वभावरूप शुद्धात्मासे विपरीत मोहका क्षय करता है।

भावार्थ-यहां आचार्यने भेद विज्ञानका प्रकार बताया है। पहले तो अनादिसे सम्बंधित पुद्गल और आत्माको अलग अलग द्रव्य पहचानना चाहिये। आत्माका चेतन द्रव्यपना आत्मामें तथा पुद्गलका अचेतन द्रव्यपना पुद्गलमें जानना चाहिये फिर अपने स्वाभाविक आत्म पदार्थमें सर्व अन्य आत्माओंको तथा अन्य पांच द्रव्योंको भी भिन्न२ जानना चाहिये इस तरह जब निश्चयनयके द्वारा द्रव्यदृष्टिसे जगतको देखनेका अभ्यास डाले तब इस देखनेवालेकी पर्यायदृष्टि गौण हो जाती है और द्रव्यदृष्टि मुख्य हो जाती है। तब द्रव्यदृष्टिमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव सब अपने२ स्वभावमें दिखते हैं। अनंत आत्माएं भी सब समान शुद्ध ज्ञानानंदमयी भासती हैं-तब समताकी भावना दृढ हो जाती है। रागद्वेष मोह अपने आप चले जाते हैं। मात्र पर्यायदृष्टिमें रागद्वेष मोह झल-

करते हैं। जैसे दूधपानी, सोनाचांदी, ताम्बापीतल व वस्त्र मैल मिले हुए भी भेदविज्ञानसे अलग अलग जाननेमें आते हैं वैसे ही चेतन और अचेतन मिले हुए होनेपर भी भिन्न२ जाननेमें आते हैं। भेदज्ञानके प्रतापसे निज आत्मा द्रव्यको अलग करके अनुभव किया जाता है तब ही मोहका नाश होता है। इस भेद विज्ञानकी महिमा स्वामी अमृतचन्द्रजीने समयसारकलशमें इस भांति दी है—

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
सभेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥ ६ ॥

भावार्थ-शुद्धात्म तत्वके लाभसे यह संवर होता है सो लाभ भेद विज्ञानके द्वारा ही होता है इसलिये भेद विज्ञानकी अच्छी तरह भावना करनी चाहिये।

श्री नागसेन मुनिने भी तत्त्वानुशासनमें कहा है—

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहं।
ज्ञ स्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥ १६४ ॥

भावार्थ-ध्याता अपने आत्माको अपने आत्मा ही के द्वारा सर्व कर्म जनित भावोंसे भिन्न ज्ञान स्वभाव तथा वीतराग स्वरूप सदा अनुभव करे ॥ ९६ ॥

उत्थानिका-आगे पूर्व सूत्रमें जिस स्व परके भेद विज्ञानकी बात कही है वह भेद विज्ञानके जिन आगमके द्वारा सिद्ध होसक्ता है ऐसा कहते हैं—

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहि आद परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोह इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥ ९७ ॥

तस्माज्जिनमार्गाद्गुणैरात्मानं परं च द्रव्येषु ।
अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ॥ ९७ ॥

सामान्यार्थ–इसलिये जिन भगवान कथित मार्गके द्वारा द्रव्योंमेंसे अपने आत्मा और पर द्रव्यको उनके गुणोंकी अपेक्षासे जाने, यदि आत्मा अपनेको मोह रहित करना चाहता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(तम्हा) क्योंकि पहले यह कह चुके हैं कि स्वपरके भेद विज्ञानसे मोहका क्षय होता है इसलिये (जिणमग्गादो) जिन आगमसे (दव्वेसु) शुद्धात्मा आदि छ द्रव्योंके मध्यमेंसे (गुणे) उन उनके गुणोंके द्वारा (आद पर च) आत्माको और परद्रव्यको (अभिगच्छदु) जाने, (जदि) यदि (अप्पा) आत्मा (अप्पणो) अपने भीतर (णिम्मोह) मोह रहित भावको (इच्छदि) चाहता है। विशेष यह है कि जो यह मेरा चैतन्य भाव अपनेको और परको प्रकाशमान करनेवाला है उसी करके मैं शुद्ध ज्ञानदर्शन भावको अपना आत्मा रूप जानता हू तथा पर जो पुद्गल आदि पाच द्रव्य हैं तथा अपने जीवके सिवाय अन्य सर्व जीव हैं उन सबको पररूपसे जानता हू। इस कारणसे जैसे एक घरमें जलते हुए अनेक दीपकोंका प्रकाश यद्यपि मिल रहा है तथापि सबका प्रकाश अलग अलग है। इस ही तरह सर्वद्रव्योंके भीतरमें मेरा [illegible]

करते हैं। जैसे दूधपानी, सोनाचांदी, ताम्बापीतल व वस्त्र मैल मिले हुए भी भेदविज्ञानसे अलग अलग जाननेमें आते हैं वैसे ही चेतन और अचेतन मिले हुए होनेपर भी भिन्न२ जाननेमें आते हैं। भेदज्ञानके प्रतापसे निज आत्मा द्रव्यको अलग करके अनुभव किया जाता है तब ही मोहका नाश होता है। इस विज्ञानकी महिमा स्वामी अमृतचंद्रजीने समयसारकलशमें भांति दी है–

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य
सभेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्।

भावार्थ–शुद्धात्म तत्त्वके लाभसे यह संवर लाभ भेद विज्ञानके द्वारा ही होता है इसलिये भेद अच्छी तरह भावना चाहिये।

श्री नागसेन मुनिने भी तत्त्वानुशासनमें कहा

कर्मजेभ्य समस्तेभ्यो भावेभ्यो भि

नहीं है इसीको भेदज्ञान कहते हैं। इस भेदज्ञानके द्वारा जब आत्मानुभवका अभ्यास किया जाता है तब अवश्य मोहकी ग्रंथी टूट जाती है और यह आत्मा परम निर्मोही वीतरागी तथा शुद्ध होजाता है। जब भेद ज्ञान होजाता है तब ही सम्यक्त भाव प्रगट होजाता है और दर्शन मोहनीय उपशम या क्षय हो जाती है फिर कषायके उदयजनित राग-द्वेषका वेत पुन २ आत्म-भावना या साम्यभाव या शुद्धोपयोगके प्रतापसे हो जाता है। तब यह आत्मा पूर्ण वीतरागी हो जाता है।

ऐसी ही भावना उपदेश समयसारजीमें भी आचार्य महाराजने किया है—

अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥ ७८ ॥

भाव यह है कि मैं एक अकेला निश्चयसे शुद्ध हूं, ज्ञान-दर्शनसे पूर्ण हूं-मेरा किसीसे भी ममत्व नहीं है। उसी अपने स्वभावमें ठहरा हुआ उसीमें लीन हुआ मैं इन सर्व मोहादिका क्षय करता हूं।

श्री आत्मानुशासनमें श्री गुणभद्राचार्यजीने कहा है—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेत् ज्ञानभावनाम् ॥ १७४ ॥
रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥ १८० ॥
मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलांकुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥ १८२ ॥

चिदानन्दमई एक स्वभाव अलग है उसका किसीके साथ मोह नहीं है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें भी आचार्यने शास्त्र पठन और भेद ज्ञानकी प्रेरणा की है। जो मार्ग या धर्म या उपाय संसारसे उद्धार होनेका श्री जिनेन्द्रोंने बताया है वही जिनवाणीमें ऋषियोंके द्वारा दर्शाया गया है। इसलिये जिन आगमका भले प्रकार अभ्यास करके लोक जिन छ द्रव्योंका समुदाय है उन छहों द्रव्योंको भले प्रकार उनके सामान्य विशेष गुणोंके द्वारा जानना चाहिये। उन द्रव्योंके गुण पर्यायोंको अलग अलग समझ लेना चाहिये। यद्यपि अनंत जीव, अनन्त पुद्गल, असंख्यात कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय तथा एक आकाशास्तिकाय परस्पर एक क्षेत्र ...न हुए इस तरह मिल रहे हैं जैसे एक घरमें यदि अनेक दीपक जलाए जाय तो उन सबका प्रकाश सब मिल जाता है तथापि जैसे प्रत्येक दीपकका प्रकाश भिन्न२ है, क्योंकि यदि एक दीपकको वहासे उठा ले जावें तो उसीका प्रकाश उसके साथ अलग होकर चला जायगा, इसी तरह हरएक द्रव्य अपनी अपनी सत्ताको भिन्न २ रखता है कोईकी सत्ता कभी भी किसी अन्य द्रव्यकी सत्तासे मिल नहीं सक्ती ऐसा जानकर अपने जीव द्रव्यको सबसे अलग ध्यानमें लेना चाहिये तथा उसका जो कुछ निज स्वभाव है उसीपर लक्ष्य देना चाहिये। जीवका निज स्वभाव शुद्ध जलकी तरह निर्मल ज्ञाता दृष्टा वीतराग और आनन्द मई है वही मैं हूं ऐसा अनुभव करना चाहिये। मेरा सम्बन्ध या मोह किसी भी अन्य जीव व सर्व अचेतन द्रव्योंसे

नहीं है इसीको भेदज्ञान कहते हैं। इस भेदज्ञानके द्वारा जब आत्मानुभवका अभ्यास किया जाता है तब अवश्य मोहकी ग्रंथी टूट जाती है और यह आत्मा परम निर्मोही वीतरागी तथा शुद्ध होजाता है। जब भेद ज्ञान होजाता है तब ही सम्यक्त भाव प्रगट होजाता है और दर्शनमोहनीय उपशम या क्षय हो जाती है फिर कषायके उदयजनित राग द्वेषका अंत पुनः २ आत्म-भावना या साम्यभाव या शुद्धोपयोगके प्रतापसे हो जाता है। तब यह आत्मा पूर्ण वीतरागी हो जाता है।

ऐसी ही भावका उपदेश समयसारजीमें भी आचार्य महा-राजने किया है—

अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥ ७८ ॥

भाव यह है कि मैं एक अकेला निश्चयसे शुद्ध हूं, ज्ञान-दर्शनसे पूर्ण हूं, मेरा किसीसे भी ममत्व नहीं है। इसी अपने स्वभावमें ठहरा हुआ उसीमें लीन हुआ मैं इन सर्व मोहादिका क्षय करता हूं।

श्री आत्मानुशासनमें श्री गुणभद्राचार्यजीने कहा है—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेद् ज्ञानभावनाम् ॥ १७४ ॥
रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥ १८० ॥
मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना [illegible] [illegible]

भावार्थ–आत्मा ज्ञान स्वभाव है, स्वभावकी प्राप्ति मोक्ष है, इसलिये मोक्षका चाहनेवाला ज्ञानभावनाको भावे। रागद्वेषसे हुई प्रवृत्ति या निवृत्तिसे इस जीवके कर्म बंध होता है। तत्त्व ज्ञानके द्वारा इन राग दोषोंसे मोक्ष होजाती है। जैसे बीजसे अंकुर फूटते हैं ऐसे ही मोहबीजसे रागद्वेष होते हैं इसलिये जो रागद्वेषको जलाना चाहे उसे ज्ञानकी अग्नि जलाकर इन दोनोंको जला देना चाहिये।

इस तरह स्व परके ज्ञानमें मूढ़ताको हटाते हुए दो गाथाओंके द्वारा चौथी ज्ञानकंठिका पूर्ण हुई।

इस तरह पचीस गाथाओंके द्वारा ज्ञानकंठिका चतुष्टय नामका दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ९७ ॥

उत्थानिका–आगे यह निश्चय करते हैं दोष रहित अर हत परमात्मा द्वारा कहे हुए पदार्थोंके श्रद्धानके बिना कोई श्रमण या साधु नहीं होसक्ता है। ऐसे श्रद्धारहित साधुमें शुद्धोपयोग लक्षणको धरनेवाला धर्म भी संभव नहीं है।

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो, तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥ ९८ ॥

सत्तासंबद्धानेतान् सविशेषान् यो हि नैव श्रामण्ये।
श्रद्दधाति न स श्रमणः ततो धर्मो न संभवति ॥ ९८ ॥

सामान्यार्थ–जो कोई जीव निश्चयसे साधु अवस्थामें सत्ता भावसे एक सबंधरूप तथा विशेष भावसे भिन्न २ सत्ता सहित इन पदार्थोंका श्रद्धान नहीं करता है वह भाव साधु नहीं

है-उस द्रव्य साधुमे धर्मका साधन संभव नहीं है।

अन्वय सहित विशेपार्थ-(जो) जो कोई जीव (हि) निश्चयसे (सामण्णे) द्रव्य रूपसे साधु अवस्थामें विराजमान होकर भी (सत्तासवद्धेदे सविसेसे) महासत्ताके सवधरूप सामान्य अस्तित्व सहित तथा विशेप सत्ता या अवान्तर सत्ता या अपने स्वरूपकी सत्ता सहित विशेष अस्तित्व सहित इन पूर्वमें कहे हुए शुद्ध जीव आदि पदार्थोको (ण सद्दहदि) नहीं श्रद्धान करता है (सो सवणो ण) वह अपने शुद्ध आत्माकी रुचि रूप निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक परम सामायिक सयम लक्षणको रखनेवाले साधुपनेके विना भावसाधु नहीं है, इस तरह भावसाधुपनेके अभावसे (तत्तो धम्नो ण संभवदि) उस पूर्वोक्त द्रव्यसाधुसे वीतराग शुद्धात्मानुभव लक्षणको धरनेवाला धर्म भी नहीं पालन हो सक्ता है यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ-यहा आचार्यने भावकी प्रधानतासे व्याख्यान किया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि यथायोग्य भावके विना साधुपना मोक्षका मार्ग नहीं है और न उससे मोक्ष ही प्राप्त हो सक्ता है। हरएक मनुष्यको जो धर्मपालन करना चाहे सम्यक्तकी आवश्यक्ता है। सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र सम्यग्चारित्र नहीं होसक्ता है। इसलिये लोकमें जिन छ द्रव्यों का कथन श्री जिन आगममें बताया है उनका यथार्थ श्रद्धान होना चाहिये। जगतमें पदार्थोंकी सत्ता सामान्य विशेषरूप है। जैसे हाथी शब्दसे सामान्यपने सब हाथियोंका बोध होता है परतु विशेषपने प्रत्येक हाथीकी सत्ता भिन्न २ है। वृक्ष कहनेसे

सर्व वृक्षोंकी सत्ता जानी जाती है, तथापि प्रत्येक वृक्ष अपनी भिन्न २ सत्ता रखता है। इसी तरह द्रव्योंमें जो सामान्य गुण व्यापक है जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व उन सबकी अपेक्षा द्रव्य एकरूप है तथापि अनेक द्रव्य होनेसे सब द्रव्य अपने भिन्न २ अस्तित्वको व वस्तुत्व आदिको भी रखते हैं। इस भेदको जानना चाहिये, जैसे महासत्ता एक है तथा अवान्तर सत्ता अनेक है। महावस्तु एक है। विशेष वस्तु अनेक हैं। इनके सिवाय विशेष गुणोंकी अपेक्षा छ द्रव्योंके भेदको भिन्न २ जानना चाहिये। सजातीय अनेक द्रव्योंमें हरएककी सत्ताको भिन्न २ निश्चय करना चाहिये जैसे प्रत्येक जीव स्वभावकी अपेक्षा परस्पर समान है परन्तु भिन्न २ सत्ताको सदा ही रखते रहते हैं, चाहे संसार अवस्थामें हों या मुक्तिकी अवस्थामें हों। पुद्गलके परमाणु यद्यपि मिलकर स्कंध होजाते हैं तथापि प्रत्येक परमाणु अपनी अपनी भिन्न २ सत्ता रखता है जो परस्पर एक क्षेत्रमें रहते हुए द्रव्योंके सामान्य विशेष स्वभावोंको निश्चय करके अपने आत्माको अपनी बुद्धिसे भिन्न पहचान लेता है वही सम्यग्दृष्टी व श्रद्धावान है। वही क्षीर जलकी तरह पुद्गलसे मिश्रित अपने जीवको अलग कर लेता है। इसी श्रद्धावानके सच्चा भेद ज्ञान होता है, और यही जीव साधुपदमें तिष्ठकर अपने आत्माको भिन्न ध्याता हुआ शुद्धोपयोग या साम्यभाव पर आरूढ होकर कर्मबंधका क्षय कर सक्ता है। यही धर्म साधक है क्योंकि निश्चयसे अभेदरत्नत्रय स्वरूप अपना आत्मा ही मोक्ष मार्ग है। व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका मात्र

निमित्त कारण है। इसलिये जिस साधुके भावमें -निश्चय धर्म नहीं है वह द्रव्य लिंगी है—भावलिंगी नहीं है। भाव लिंगी हुए विना वह परम सामायिक संयम जो वीतराग भावरूप तथा निज आत्मामें तल्लीनता रूप है नहीं प्राप्त हो सक्ता है। जहा सामायिक संयम नहीं वहा मुनिपना कथन मात्र है। साधुपदमें उसी वातको साधन करना है जिसका अपनेको श्रद्धान है। जो निज आत्माको सबसे भिन्न पहचानता है, वही भेद भावनाके अभ्याससे निजको परसे छुड़ा सक्ता है। जैसे जो सुवर्णकी कणिकाओंको पहचानता है वही उन कणिकाओंको मिट्टीकी कणिकाओंके मध्यमेंसे चुन सक्ता है इसलिये भावकी प्रधानता ही कार्यकारी है ऐसा निश्चय रखना चाहिये। ऐसा ही श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसार कलशमें कहा है—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिं
नस्मिन्नेव नि
सोऽवश्यं सम
ये त्वेन परिहृ
लिङ्गे द्रव्यमये
नित्योद्योतमख
प्राग्भारं समय
व्यवहारविमूढ
तुषबोधविमुग्ध

भावार्थ
यह आत्मा ही

पाता है। जो साधु हिंसादि पांच पाप त्यागकर अपने आत्माको स्थिर करता है उसीके अनुपम चारित्र होता है और वही पंचम गतिको ले जाता है। ऐसा जान शुद्धोपयोगको ही धर्म जान उसी हीकी निरंतर भावना करनी योग्य है ॥ ९८ ॥

उत्थानिका–आगे आचार्य महाराजने पहली नमस्कारकी गाथामें "उवसंपयामि सम्मं" आदिमें जो प्रतिज्ञा की थी। उसके पीछे "चारित्तं खलु धम्मो" इत्यादि सूत्रसे चारित्रके धर्मपना व्यवस्थापित किया था तथा "परिणमदि जेण दव्वं" इत्यादि सूत्रसे आत्माके धर्मपना कहा था इत्यादि सो सब शुद्धोपयोगके प्रसादसे साधने योग्य है। अब यह कहते हैं कि निश्चयरत्नत्रयमें परिणमन करता हुआ आत्मा ही धर्म है। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि सम्यक्तके विना मुनि नहीं होता है, ऐसे मिथ्यादृष्टी श्रमणसे धर्म सिद्ध नहीं होता है, तब फिर किस तरह श्रमण होता है ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर देते हुए इस ज्ञानाधिकारको संकोच करते हैं।

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा, धम्मोत्ति विसेसिदो समणो॥ ९९

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते ।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषित श्रमण ॥९९॥

सामान्यार्थ–जिसने दर्शन मोहको नष्ट कर दिया है, जो आगम ज्ञानमें कुशल है व वीतराग चारित्रमें लीन है तथा महात्मा है वही मुनि धर्म है ऐसा कहा गया है।

है, उसीको ध्याता है, उसीका अनुभव करता है तथा उसीमें ही अन्य द्रव्योंको न स्पर्श करता हुआ विहार करता है सो ही अवश्य शीघ्र नित्य उदयरूप शुद्धात्माको प्राप्त कर लेता है। जो कोई व्यवहार मार्गमें अपनेको स्थापित करके इस निश्चय मार्गको छोड़कर द्रव्यलिंगमें ममता करते हैं और तत्वज्ञानसे रहित हो जाते हैं वे अब भी नित्य उद्योतरूप, अखंड, एक, अनुपमज्ञानमई स्वभावसे पूर्ण तथा निर्मल समयसारको नहीं अनुभव करते हैं। जो व्यवहार मार्गमें मूढ़ बुद्धि हैं व मनुष्य निश्चयको नहीं अभ्यास करते हैं और न परमार्थको पाते हैं, जैसे जो चावलकी भूसीमें चावलोंका ज्ञान रखते हैं वे सदा तुपको ही चावल जानते हुए तुपका ही लाभ करते हैं, चावलको कभी नहीं पाते हैं।

श्री योगेन्द्राचार्यने योगसारमें यही कहा है—

जो अप्पा सुद्ध वि मुणइ असुइसरीरविभिण्णु ।
सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खहलीणु ॥९४॥
जो ण वि जाणइ अप्प परु ण वि परभाव चएवि ।
जो जाणउ सच्छइ सयलु ण हु सिवसुक्ख लहेवि ॥९५॥
हिंसादिउ परिहारकरि जो अप्पाहु ठवेइ ।
सो बीअउ चारित्त मुणि जो पचमगइ णेइ ॥१००॥

भावार्थ–जो अपने आत्माको अशुचि शरीरसे भिन्न शुद्ध रूप ही अनुभव करता है वही अविनाशी अतीद्रिय सुखमें लीन होता हुआ सर्व शास्त्रोंको जानता है। जो आत्मा अनात्माको नहीं पहचानता है और न परभावको ही त्यागता है वह सर्व शास्त्रोंको जानता हुआ भी नहीं जानता हुआ मोक्ष सुखको नहीं

पाता है। जो साधु हिंसादि पांच पाप त्यागकर अपने आत्माको स्थिर करता है उसीके अनुपम चारित्र होता है और वही पंचम गतिको ले जाता है। ऐसा जान शुद्धोपयोगको ही धर्म जान उसी हीकी निरंतर भावना करनी योग्य है ॥ ९८ ॥

उत्थानिका–आगे आचार्य महाराजने पहली नमस्कारकी गाथामें " उवसपयामि सम्म " आदिमें जो प्रतिज्ञा की थी। उसके पीछे " चारित खलु धम्मो " इत्यादि सूत्रसे चारित्रके धर्मपना व्यवस्थापित किया था तथा " परिणमदि जेण दव्व " इत्यादि सूत्रसे आत्माके धर्मपना कहा था इत्यादि सो सब शुद्धोपयोगके प्रसादसे साधने योग्य है। अब यह कहते हैं कि निश्चयरत्नत्रयमें परिणमन करता हुआ आत्मा ही धर्म है। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि सम्यक्तके विना मुनि नहीं होता है, ऐसे मिथ्यादृष्टी श्रमणसे धर्म सिद्ध नहीं होता है, तब फिर किस तरह श्रमण होता है ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर देते हुए इस ज्ञानाधिकारको संकोच करते हैं।

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा, धम्मोत्ति विसेसिदो समणो॥ ९९

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते ।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषित श्रमण ॥९९॥

सामान्यार्थ–जिसने दर्शन मोहको नष्ट कर दिया है, जो आगम ज्ञानमें कुशल है व वीतराग चारित्रमें लीन है तथा महात्मा है वही मुनि धर्म है ऐसा कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जो समणो) जो साधु (णिहदमोहदिट्ठी) तत्वार्थ श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यक्तके द्वारा उत्पन्न निश्चय सम्यग्दर्शनमें परिणमन करनेसे दर्शन मोहको नाश कर चुका है, (आगमकुसलो) निर्दोष परमात्मासे कहे हुए परमागमके अभ्याससे उपाधि रहित स्वसंवेदन ज्ञानकी चतुराईसे आगमज्ञानमें प्रवीण है (विरागचरियम्मि अब्भुट्ठिदो) व्रत, समिति, गुप्ति आदि बाहरी चारित्रके साधनके वशसे अपने शुद्धात्मामें निश्चल परिणमनरूप वीतराग चारित्रमें वर्तनके द्वारा परम वीत राग चारित्रमें भले प्रकार उद्यमी है तथा (महप्पा) मोक्ष रूप महा पुरुषार्थको साधनेके कारण महात्मा है-यही (धम्मोत्ति विसे सिदो) जीना मरना, लाभ, अलाभ आदिमें समताकी भावनामें परिणमन करनेवाला श्रमण ही अभेद नयसे मोह, क्षोभ रहित आत्माका परिणामरूप निश्चय धर्म कहा गया है।

भावार्थ-जो प्रतिज्ञा श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराजने पह ले की थी कि शुद्धोपयोग या साम्यभावका मैं आश्रय करता हूं, उसीका वर्णन पूर्ण करते हुए इस गाथामें बताया है कि व्यवहार रत्नत्रय द्वारा प्राप्त निश्चय रत्नत्रयमें तिष्ठनेवाला जो शुद्धोपयोग या साम्यभावका धारी साधु है वही सच्चा साधु है तथा वही धर्मात्मा है, वही महात्मा है, वही मोक्षका पात्र है, वही पर- मात्माका पद अपनेमें प्रकाश करेगा। इस गाथाको कहकर आचा र्यने व्यवहार व निश्चय रत्नत्रयकी उपयोगिताको बहुत अच्छी तरह बता दिया है। तथा यह भी प्रेरणा की है कि जो स्वाधीन होकर निज आत्मीक सम्पत्तिका विना किसी बाधाके सदा ही

मोक्ष करना चाहते हैं उनको प्रथम शास्त्रज्ञानसे तत्वार्थ श्रद्धान प्राप्तकर निश्चय क्षायिक सम्यक्त प्राप्त करना चाहिये, फिर आगमके अधिक अभ्याससे ज्ञान वैराग्यको बढ़ाते हुए व्यवहार चारित्रके द्वारा वीतराग चारित्रका साधन करना चाहिये। यही साक्षात मोक्षमार्ग है। यही रत्नत्रयकी एकता है तथा यही स्वात्मानुभव है व यही निर्विकल्प ध्यान है। यही परिणाम कर्मकाष्टके भस्म करनेको अग्निके समान है।

श्री योगेन्द्रदेवने अमृताशीतिमें कहा है—

दृगवगमनवृत्तान्यस्वरूपाविष्टो ।
व्रजति जलधिकल्पं ब्रह्मगम्भीरभावं ।
त्वमपि सुनयमत्वा मद्वचस्सारमस्मिन् ।
भजसि भव-भवान्तस्थायिधामाधिपत्वम् ॥ ६३ ॥
यदि चलति कथञ्चिन्मानसं स्वस्वरूपाद्
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसङ्गः ।
तदनवरतमन्तर्मग्नसंविग्नचित्तो ।
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥ ६४ ॥

भावार्थ-दर्शन ज्ञान चारित्रमई अपने स्वरूपमें प्रवेश किया हुआ यह आत्मा समुद्र समान ब्रह्मके गंभीर भावमें चला जाता है। तू भी मेरे सार वचनको अच्छी तरह मानकर यदि चले तो तू संसारका अंतकर मोक्षधामका स्वामी हो जावे, यदि कहीं अपने निज स्वरूपसे मन चल जाय तो बाहर ही घूमता है, जिससे सर्व दोषोंका प्रसंग आता है। इससे निरंतर अंतरंगमें मग्नचित्त होता हुआ तू सिद्धधामका पति होजा ॥९९॥

उत्थानिका-आगे ऐसे निश्चय रत्नत्रयमें परिणमन करनेवाले महा मुनिकी जो कोई भक्ति करता है उसके फलको दिखाते हैं–

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।
वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ॥

यो तं दृष्ट्वा तुष्टः अभ्युत्थाय करोति सत्कारं।
वंदननमनादिभिः ततः सो धर्ममादत्ते ॥ १०० ॥

सामान्यार्थ-जो कोई ऐसे साधुको देखकर संतोषी होता हुआ उठकर वंदन नमस्कार आदिके द्वारा सत्कार करता है वह उस साधुके द्वारा धर्मको ग्रहण करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जो तं दिट्ठा तुट्ठो) जो कोई भव्योंमें प्रधान वीतराग शुद्धात्माके अनुभवरूप निश्चय धर्ममें परिणमनेवाले पूर्व सूत्रमें कहे हुए मुनीश्वरको देखकर पूर्ण गुणोंमें अनुरागभावसे संतोषी होता हुआ (अब्भुट्ठित्ता) उठकर (वंदण णमंसणादिहिं सक्कारं करेदि) "तव सिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि वंदना तथा "णमोस्तु" रूप नमस्कार इत्यादि भक्तिविशेषोंके द्वारा सत्कार या प्रशंसा करता है (सो तत्तो धम्ममादियदि) सो भव्य उस यतिवरके निमित्तसे पुण्यको प्राप्त करता है।

भावार्थ-द्रव्य और भाव लिंगधारी साधु ही यथार्थमें भक्ति करनेके योग्य हैं। उनकी भक्तिमें भीतरसे जो प्रेमरूप आसक्ति होती है वही बाहरी भक्तिको वचन तथा कायके द्वारा प्रगट कराती है। उस शुभ भावके निमित्तसे महान पुण्यका लाभ

होता है। इसके सिवाय उनका उपदेश व उनकी शांत मुद्रा हमें उसी शुद्धोपयोगरूप धर्मको सिखाती है जिसे ग्रहणकर हम भी मोक्षका साधन कर सकें ॥ १०० ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि उस पुण्यसे परभवमें क्या फल होता है –

तेण णरा व तिरिच्छा, देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा।
विहविस्सरियेहिं सया सपुण्णमणोरहा होंति ॥ १०१ ॥

तेन नरा वा तिर्यञ्चो देवीं वा मानुषीं गतिं प्राप्य।
विभवैश्वर्याभ्यां सदा सपूर्णमनोरथा भवंति ॥ १०१ ॥

सामान्यार्थ–उस पुण्यसे मनुष्य या तिर्यंच देव या मनुष्यकी गतिको पाकर विभूति व ऐश्वर्यसे सदा सफल मनोरथ होते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(तेण) उस पूर्वमें कहे हुए पुण्यसे (णरा वा तिरिच्छा) वर्तमानके मनुष्य या तिर्यंच (देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा) मरकर अन्यभवमें देव या मनुष्यकी गतिको पाकर (विहविस्सरियेहिं सया सपुण्ण मणोरहा होंति) राजाधिराज सबंधी रूप, सुन्दरता, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री आदिसे पूर्ण विभूति तथा आज्ञारूप ऐश्वर्यसे सफल मनोरथ होते हैं। वही पुण्य यदि भोगोंके निदान विना सम्यक् दर्शन पूर्वक होता है तो उस पुण्यसे परम्परा मोक्षकी प्राप्ति होती है। यह भावार्थ है।

भावार्थ-आचार्यने इस गाथामें उपासकके लिये धर्म सेवनका फल बताया है तथा यह भी प्रगट किया है कि मोक्षका साक्षात लाभ वही साधु कर सक्ता है जो निश्चय रत्नत्रयमें लीन होकर शुद्धोपयोगमें स्थिर होता है। वीतराग चारित्रके विना कर्मोंका दहन नहीं हो सक्ता है। तब जो गृहस्थ हैं या चौथे पांचवें गुणस्थान धारी हैं उनको क्या फल होगा? इसके लिये कहा है कि वे मनुष्य या पंचेन्द्री सैनी पशु अतिशयकारी पुण्य बांधकर स्वर्गमें जाते हैं, वहांसे आकर उच्च मनुष्यके पद पाकर मुनि हो मोक्ष जाते हैं, अथवा कोई इसी भवके पीछे मनुष्य हो मुनिव्रत पाल मोक्ष जाते हैं। उपासक या श्रावकका धर्म परम्परा मोक्ष साधक है जब कि साधुका धर्म साक्षात् मोक्ष साधक है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सब ही साधु उसी भवसे मोक्ष पा सक्ते हैं, किंतु यह है कि यदि मोक्ष होगी तो साधु पदमें परम शुद्धध्यान द्वारा ही मोक्ष होगी। वास्तवमें इस शुद्धोपयोगकी भक्ति भी परमकार्यकारी है ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्य वृत्ति टीकामें पूर्वमें कहे प्रमाण " एस सुरासुरमणुसिंदवंदिय " इस गाथाको आदि लेकर ७२ बहत्तर गाथाओंमें शुद्धोपयोगका अधिकार है फिर " देवदजदि गुरु पूजासु " इत्यादि पच्चीस गाथाओंसे ज्ञानकण्ठिका चतुष्टय नामका दूसरा अधिकार है फिर " सत्तासंबद्धेद " इत्यादि सम्यग्दर्शनका कथन करते हुए प्रथम गाथा, तथा रत्नत्रयके धारी पुरुषके ही धर्म संभव है ऐसा कहते हुए " जो णिहदमोहदिट्ठी " इत्यादि

दूसरी गाथा है, इस तरह दो स्वतंत्र गाथाए हैं। उस निश्चय धर्मधारी तपस्वीकी जो कोई भक्ति करता है उसका फल कहते हुए "जो त दिट्ठा" इत्यादि गाथाएं दो हैं, इस तरह दो अधिकारोंसे व पृथक् चार गाथाओंसे सब एकसौ एक गाथाओंसे यह ज्ञानतत्त्वप्रतिपादक नामका प्रथम महा अधिकार समाप्त हुआ।

समाप्तोऽयं ग्रंथ।

इस ग्रंथके ज्ञानतत्त्व नामके महा अधिकारका

सारांश।
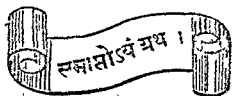
आचार्य महाराजने ग्रंथके आदिमें ही यह प्रतिज्ञा की है कि मैं साम्यभावरूप शुद्धोपयोगका आश्रय लेता हूं क्योंकि उसीसे निर्वाणका लाभ होता है इसी बातको इस अधिकारमें अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। निश्चय रत्नत्रयकी एकता मोक्ष मार्ग है। जहां ऐसा परिणाम है उसीको वीतराग चारित्र या मोह क्षोभ रहित साम्यभाव या शुद्ध उपयोग कहते हैं। यह आत्मा परिणामी है, इसके तीन प्रकारके परिणाम हो सक्ते हैं–शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग। शुद्धोपयोग मोक्षसाधक है। मन्द कषायरूप, अर्हत् भक्ति रूप, दान पूजा वैयावृत्य परोपकाररूपभाव, शुभोपयोग है, जिससे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। और हिंसा, असत्य, तीव्र विषयानुराग, आर्त्तपरिणाम, अहंकार आदि तीव्र कषाय रूप परिणाम अशुभोपयोग है–यह नर्क या तिर्यंच या कुमानुषके जन्ममें प्राप्त करानेवाला है, अत यह सर्वथा त्यागने योग्य है। तथा शुभोपयोग, शुद्धोपयोगके लाभके लिये तथा शुद्धोपयोग साक्षात् ग्रहण करने योग्य है। आत्माका निज आनन्द जो निराकुल तथा स्वाधीन है, शुद्धोपयोगके द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी शुद्धोपयोगके द्वारा यह आत्मा स्वयं अर्हंत परमात्मा होजाता है। ऐसे केवलज्ञानीके क्षुधा तृषा आदिकी बाधा नहीं होती है और न इच्छापूर्वक वचन तथा कायकी क्रियाएं होती हैं, क्योंकि उनके मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय हो

गया है। उनके तथा अन्य जीवोंके पुण्य कर्मके उदयसे विना इच्छाके ही प्रभुकी वाणी खिरती है व उपदेशार्थ विहार होता है। केवलज्ञानीके अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष होता है जिसकी महिमा वचन अगोचर है, उस ज्ञानमें सर्व जानने योग्य सर्व द्रव्योंके सर्व गुण पर्याय एक समयमें विना किसी क्रमके झलकते हैं। उनको जाननेके लिये किसी तरहका खेद नहीं करना पड़ता है और न इंद्रियोंकी सहायता ही लेनी पड़ती है, न कोई आकुलता ही होती है-वह केवलज्ञानी पूर्णपने निराकुल रहते हैं-उनका ज्ञान यद्यपि प्रदेशोंकी अपेक्षा आत्माके ही भीतर है परन्तु सर्व जाननेकी अपेक्षा सर्व गत या सर्वव्यापी है। इसी सर्वव्यापी ज्ञानकी अपेक्षासे केवली भगवानको भी सर्वव्यापी कह सके हैं। केवली महाराजके अनत सुख भी अपूर्व है जिसमें कोई पराधीनता, विसमता व क्षणभगुरता व अन्तपना नहीं है। वह सुख प्रत्यक्ष आत्माका स्वभाव है, इन्द्रियोंके द्वारा सुख वास्तवमें दुःख है क्योंकि दुःखोंके कारण कर्मोंको बांधनेवाला है, पराधीन है, अतृप्तिकारी है, क्षणभगुर है और नाश सहित है। केवली महाराज प्रत्यक्ष ज्ञान व सुखके भंडार हैं। शुद्धोपयोगके फलसे केवली परमात्मा हो फिर शेष कर्म नाशकर सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं। यह शुद्धोपयोग श्रुतज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। श्रुतज्ञान शास्त्रोंके द्वारा वैसा ही पदार्थोंका स्वरूप जानता है जैसा केवली महाराज जानते हैं अंतर मात्र परोक्ष या प्रत्यक्षका है। तथा परोक्ष श्रुतज्ञान अपूर्ण है अस्पष्ट है जब कि केवलज्ञान पूर्ण और स्पष्ट है तथापि

आत्मा और अनात्माका स्वरूप जैसे केवलज्ञानी जानते हैं वैसा ही श्रुतज्ञानी जानते हैं। इसी यथार्थ आगम ज्ञानके द्वारा भेद विज्ञान होता है तब अपने आत्माका सर्व अन्य द्रव्योंसे पृथक् पनेका निश्चय होता है, ऐसा निश्चय करके जब कोई आत्मामें कुशलता रखता हुआ मोहके कारणोंको त्यागकर निर्ग्रंथ हो अपने उपयोगको शुद्धात्माके सन्मुख करता है तब वह निश्चय रत्नत्रयकी एकता रूप शुद्धोपयोगको पाता है। यह आत्मा कूटस्थ नहीं है किंतु परिणमनशील है। जब यह शुद्ध भावमें न परिणमन करके रागद्वेष मोह रूप परिणमन करता है तब इसके कर्मोंका बंध होता है, जिस बंधसे यह जीव संसारसागरमें गोता खाता हुआ चारों गतियोंमें महादुःखोंको प्राप्त होता है, इसलिये आचार्यने शिक्षा दी है कि मोहका नाश करके फिर रागद्वेषका क्षय करना चाहिये। जिसके लिये जिन आगमके अभ्यासको बहुत ही उपयोगी बताया है और वारवार प्रेरणा की है कि जो मोक्ष का स्वाधीन सुख प्राप्त करना चाहता है उसको शास्त्रका पठन व मनन अच्छी तरह करके छः द्रव्योंके सामान्य व विशेष स्वभावों को अलग २ पहचानना चाहिये। और फिर निज आत्माका स्वभाव भिन्न देखकर उसको पृथक् मनन करना व उसका ध्यान करना चाहिये। आत्मध्यान ही रागद्वेष मोहका विलय करने वाला है।

स्वामीने यह भी बताया है कि आत्मामें सुख स्वभावसे ही है। जो सुख इन्द्रियोंके द्वारा मालूम होता है वह भी अपनी कल्पनासे रागके कारणसे भोगनेमें आता है। शरीर व विषयके

सार्थ सुख नहीं देते हैं। सांसारिक सुख नाशवान है।
इसकी तृष्णाकी दाह होती है इसकी शांतिके लिये इन्द्रादिक
देव व चक्रवर्ती आदि भी विषयसुख भोगते हैं परन्तु वह
तृष्णा विषयभोगसे कभी भी शांत नहीं होती है उलटी
बढ़ती जाती है। उसकी शांतिका उपाय निज आत्माके मनन
से उत्पन्न समतारूपी अमृतका पान है। आत्मसुख उपादेय
है, विषयसुख हेय है, ऐसा जो श्रद्धानमें लाता है वही सम्य-
ग्दृष्टी है। वही मोहका नाशकर देहके द्वारा होनेवाले सर्व
दुःखोंको मेट देता है। जो अरहंत परमात्माके द्रव्यगुण पर्यायको
पहचानता है वही अपने आत्माको जानता है। जो निश्चय नयसे
अपने आत्माको जानकर भेदज्ञानके द्वारा आपमें ठहर जाता है
वही निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षके कारण भावको प्राप्तकर लेता है।
ऐसे भावको समझकर जो साधु अवस्थामें साधुका चारित्र पालता
हुआ वीतराग चारित्ररूप होकर निजानन्दका स्वाद पाता है वही
यथार्थमें भाव मुनि है। जिसके निश्चय चारित्र नहीं है वह द्रव्य-
लिंगी है तथा मोक्षमार्गमें गमन करनेवाला नहीं है। श्री अरहंत
भगवान और भावश्रमण ही वारवार नमस्कार करने व भक्ति करनेके
योग्य हैं। उपासक इनकी यथार्थ सेवा करके पुण्य बांध उत्तम देव
या मनुष्य होकर परम्परास मोक्षके पात्र होजाते हैं।

इस ग्रन्थमें आचार्यने शुद्धोपयोग या साम्यभावकी यथार्थ
महिमा कहकर रागद्वेष मोह तज आत्मज्ञान व आत्मध्यान कर-
नेकी ओर जीवको लगाकर समताके रमणीक परम शांतसमुद्रमें
स्नान करनेकी प्रेरणा की है। यही इस ग्रन्थका सार है। जो
कोई वारवार इस भाषाटीकाको पढ़ेंगे उनको आत्मलाभ होगा।

भाषाकारका परिचय।

दोहा।

श्री कुन्दकुन्द भगवान कृत, प्राकृत ग्रंथ महान।
तत्त्वज्ञानसे पूर्ण है, परमानंद निधान ॥ १ ॥
ताकी संस्कृत वृत्ति यह, कर्ता श्री जयसेन।
परमज्ञान रस दान है, सहजहि बोध सुदेन ॥ २ ॥
ताकी भाषा देख नहिं, उपजो एम भाव।
भाषामें कर दीजिये, प्रगटे ज्ञान स्वभाव ॥ ३ ॥
अग्रवाल शुभ वंशमें, गोयल गोत्र मझार।
मंगलसेन ज्ञानी महा, करत धर्म विस्तार ॥ ४ ॥
पुत्र हैं मक्खनलाल.कमा तिनका मैं हूँ पूत।
सीतल नाम प्रख्यात है दुखसागर भी कूप ॥ ५ ॥
जन्म लक्ष्मणापुरीमें, अवध प्रान्त सुखकार।
पढ़ विद्या इंग्लिश सहित सुखो द्रव्य अपार ॥ ६ ॥
विक्रम पैतिस उणविसा, जन्म वैश्य गृहधार।
गृह व्यापार हटाय सब, वत्तिस वरष मझार ॥ ७ ॥
गृहत्यागी श्रावक दशा, धुलखे बीतत सार।
निज आतम अनुभव रहे, नित जिन द्रव्य मझार ॥ ८ ॥
जिन वाणी अभ्यासमें, अध्यातम एक रत्न।
जिन चीन्हा निज प्रेमसे, किया योगका यत्न ॥ ९ ॥
ताकी रुची की प्रेरणा, भई अपार महान।
आतम धर्म गृहि धर्म धर, लिखे भय गुणखान ॥ १० ॥

समयसार आगम परम, नियमसार सुखदाय।
भाषाटीका रच करो, निज अनुभूति उपाय ॥ ११ ॥
आनन्द अनुभव खेल बहु, और स्वसमरानन्द।
लिखे स्व अनुभव कारणे, भोग्यो निज आनन्द ॥ १२ ॥
पूज्यपाद स्वामी रचित, शतकसमाधि सार।
इष्ट उपदेश महानकी, टीका रची सम्हार ॥ १३ ॥
इत्यादिक कुछ ग्रंथको, पुद्गल शब्द मिलाय।
निज मति परखन कारणे, लिखे परम हरषाय ॥ १३ ॥
विक्रम संवत उनअसी, उन्निसमेंमें जाय।
कलकत्ता नगरी रह्यो, अवसर वर्षा पाय ॥ १५ ॥
व्यापारी जह बहुत हैं, धन कण बुद्धि पूर।
आकुलता सागर बनो, उद्यमसे भरपूर ॥ १६ ॥
बृटिश राज्य था देशमें, द्वादश लख समुदाय।
करत सुनिज निज कार्यको, पाप पुण्य फल पाय ॥ १७ ॥
कई सहस जैनी तहां, लक्ष्मी उद्यम लाग।
रहत करत कुछ भक्ति भी, जिन मतकी धर राग ॥ १८ ॥
श्री जिन मंदिर चार तह, एक चैत्य गृह जान।
नित प्रति पूजा होत जह, शास्त्र पठन गुणगान ॥ १९ ॥
विद्वद्वर पंडित तहां, श्री जयदेव प्रवीण।
शास्त्र पठनमें विज्ञ हैं, निज अनुभवमें लीन ॥ २० ॥
संस्कृत विद्या सार धर, झम्मनलाल श्रीलाल।
और गजाधरलाल हैं, नयविद् मक्खनलाल ॥ २१ ॥

अग्रवाल शुभ वंशमें, मुख्य सेठ दयाचंद।
वृद्धिचन्द वैजनाथजी रामचंद फूलचंद ॥ २१ ॥
खडेलवालके वंशमें, मुख्य सेठ रामलाल।
रामचंद्र अरु चैनसुख, मल गंभीर दयाल ॥ २२ ॥
ओसवाल परवार भी, आदि वसत समुदाय।
औषधि दाता गुण उदधि, मुन्नालाल सहाय ॥ २४ ॥
आनन्द धार सुप्रेमसे, चर्चा धरम बढ़ाय।
चार मास अनुमान तहं, रहे सुगणपति पाय ॥ २५ ॥
प्रवचनसार विशाल यह आरम्भो तहं ग्रन्थ।
निज आतम अभ्यासको, खोला अनुपम पंथ ॥ २६ ॥
समय पाय पूरण कियो, एक अध्याय महान।
फागुन सुदि चौदश दिना, वार शुक्र अमलान ॥ २७ ॥
रांची जिला विशालमें, है तमाड़ एक ग्राम।
प्राचीन श्रावक बसैं, धर्म बोध विन ज्ञात ॥ २८ ॥
धर्म सुपथकी प्रेरणा, कारण आयो धाय।
बादोडिह एक ग्राममें, ठहरो मन उमगाय ॥ २९ ॥
श्री जिन प्रतिमा थाप तहं, देखो गृह रुचि पाय।
ग्रंथ सुपूरण तहं कियो, परमानंद बढ़ाय ॥ ३० ॥
मरघाना ठाकुर यहां, राम सुजीवन सिंह।
गुणधारी सज्जननिका, भक्त वृद्ध मतिसिंह ॥ ३१ ॥
समता शांति सु आतम सुरस-को निमित्त यह ठाम।
तातें नित धर्मीनिसे, पूर्ण रहे यह धाम ॥ ३२ ॥

मंगल श्री अरहंत हैं, मंगल सिद्ध महान।
मंगल साधु समूह हैं, मंगल जिन वृष जान ॥ ३३ ॥
भाव द्रव्यसे नमनकर, भाव धरूं यह सार।
नर नारी या ग्रन्थको, पढ सुन हों दु:ख पार ॥ ३४ ॥
पहचाने निज तत्त्वको, ज्ञान स्वसुख भंडार।
अनुभव करें निजात्मका, ध्यान धरें अविकार ॥ ३५ ॥

इस महान ग्रंथ श्री प्रवचनसारके प्रथम अध्यायकी **ज्ञान तत्त्वदीपिका** नाम भाषाटीका मिती फागुन सुदी १४ की रात्रिको सवेरा होते होते ९ बजे रांची प्रांतके तमाड़ पोष्टके **जादोडिह** ग्राममें पूर्ण की।

शुभं भवतु, कल्याणं भवतु, आत्मानुभवो भवतु।

धर्म रसिकोंका सेवक—

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद।

तारीख २ मार्च १९१३ वार शुक्र वीर सं० २४४९
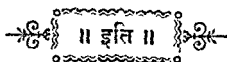
ब्र० शीतलप्रसादजी रचित ग्रन्थ।

१ समयसार टीका (कुंदकुंदाचार्यकृत पृ० २५०) २॥)
२ समाधिशतक टीका (पूज्यपाद कृत) १)
३ गृहस्थ धर्म (दूसरी बार छप चुका पृ० ३९०) १॥)
४ सुखसागर भजनावली (२१० भजनोंका संग्रह) ॥=)
५ स्वसमरानंद (चेतन कर्म युद्ध) =)
७ छः ढाला (दौलतरामकृत सार्थ) ।)
८ जिनेन्द्र मत दर्पण प्र० भाग (जैन धर्मका स्वरूप-)
९ आत्म धर्म (जैन अजैनको उपयोगी, दूसरीवार) ।=)
१० नियमसार टीका (कुंदकुंदाचार्यकृत) १॥)
११ प्रवचनसार टीका १।)
१२ सुलोचनाचरित्र (तैयार हो रहा है)
१३ अनुभवानंद (आत्माके अनुभवका स्वरूप) ॥)
१४ दीपमालिका विधान (महावीर पूजन सहित) -)
१५ सामायिक पाठ अमितगतिकृत
(संस्कृत, हिन्दी छंद, अर्थ, विधि सहित) -)॥
१६ इष्टोपदेश टीका (पूज्यपाद कृत पृ० २८०) १।)
१७ आत्मानंद सोपान)॥

मिलनेका पता-

मैनेजर, दिगम्बर जैन पुस्तकालय—सूरत।